II

577

॥ श्रीः ॥

गोकुलदास संस्कृत ग्रन्थमाला

१०

महाकविकालिदासप्रणीतं

# कुमारसम्भवम्

मल्लिनाथ विरचित 'संजीविनी' तथा 'वकुला'

हिन्दीव्याख्या-सहित

द्वितीय सर्ग

सम्पादक-व्याख्याकार

कन्हैयालाल जोशी

एम० ए० वेदालंकार

Bhawan's Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya Bharatiya Vidya

613

चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्राच्यविद्या एवं दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक एवं वितरक

वाराणसी दिल्ली

प्रकाशक

**चौखम्भा ओरियन्टालिया**

पो० आ० चौखम्भा, पो० बाक्स नं० ३२
गोकुल भवन, के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी–२२१००१ ( भारत )

टेलीफोन : ६३३५४ टेलीग्राम : गोकुलोत्सव

---

शाखा—बंगलो रोड, ९ यू० बी० जवाहर नगर
दिल्ली—११०००७ फोन : २२१६१७

मूल्य १०.००

© चौखम्भा ओरियन्टालिया

द्वितीय संस्करण : १९८३

Bhawan's Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya · Bharatiya Vidya
613

---

मुद्रक—श्रीगोकुल मुद्रणालय, वाराणसी

॥ श्रीः ॥

# कुमारसम्भव-महाकाव्यम्

## कोलाचलमल्लिनाथसूरिकृता 'सञ्जीविनी' सहितं सटिप्पणी 'निर्मला' हिन्दीटीकोपेतश्च

### द्वितीयः सर्गः

तस्मिन्विप्रकृताः काले तारकेण दिवौकसः ।
तुरासाहं पुरोधाय धाम स्वायंभुवं ययुः ॥ १ ॥

अन्वय—तस्मिन् काले तारकेण विप्रकृताः दिवौकसः तुरासाहं पुरोधाय स्वायंभुवं धाम ययुः ॥ १ ॥

सञ्जीविनी—तस्मिन्निति । तस्मिन् काले पार्वतीशुश्रूषाकाले तारकेण तारक नाम्ना वज्रणखपुत्रेण केनचिदसुरेण विप्रकृताः उपप्लुता दिवमोकः स्थानं येषां ते दिवौकसः देवाः । 'दिवं स्वर्गेऽन्तरिक्षे च' इति विश्वः । द्यौरोक इति पक्षे पृषोदरादित्वात्साधुः । तुरं त्वरितं साहयत्यभिभवतीति तुराषाट् । साहतेश्चौरादिकात्क्विप् । 'नहिवृति वृषि—' इत्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घः । प्रकृतिग्रहणे प्रातिपदिकस्यापि ग्रहणात् । मुग्धबोधकारस्तु तुराशब्दष्टाबन्त इत्याचष्टे । तं तुरासाहं देवेन्द्रम् । अजादिषु साड्रूपत्वाभावात् । 'सहेः साडः सः' इति षत्वं न भवति । पुरोधाय पुरस्कृत्य । स्वयंभुवो ब्रह्मण इदं स्वायंभुवम् । संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वात् 'ओर्गुणः' इति गुणो न । धाम स्थानं ययुः । ब्रह्मलोकं जग्मुरित्यर्थः ॥ १॥

निर्मला—तस्मिन् काले = पार्वतीसेवाकाले । तारकेण = तन्नामासुरेण । विप्रकृताः = उपप्लुताः । दिवौकसः = देवाः । तुरासाहम् = देवेन्द्रम् । पुरोधाय = पुरस्कृत्य । स्वायंभुवम् = ब्रह्मसम्बन्धिनम् । धाम = लोकम् । ययुः = जग्मुः ॥ १ ॥

हिन्दी—उस समय तारकासुर से पीड़ित होकर देवगण इन्द्र को आगे करके ब्रह्मलोक गये ।

टिप्पणी—तस्मिन् काले—उस समय । इसका आशय है कि जब शिवजी तपश्चरण कर रहे थे और पार्वती अपनी सखियों समेत नित्य प्रति उनकी सेवा

में संलग्न थी। ऐसे समय में। तारकेण—तारकासुर के द्वारा। यह महाबली दैत्य था। इसके पिता का नाम वज्रनख या वज्राङ्ग और माता का नाम वराङ्गी था। इसने समस्त लोकों को जीतने की इच्छा से तपस्या आरम्भ की। ब्रह्मा नें प्रकट होकर इसे इच्छित वर माँगने को कहा। इसने कहा कि मुझे कोई मार न सके। तब ब्रह्मा ने इसकी इच्छा पूरी करते हुए कहा कि सात दिन की आयु के बच्चे के अतिरिक्त अन्य कोई भी तुम्हें नहीं मार सकता। मद में चूर तारक ने सोचा कि भला सात दिन का बालक मेरा क्या बिगाड़ सकता है और वह देवताओं को तरह-तरह से उत्पीड़ित करने लगा। अन्त में शिवजी के पुत्र कार्तिकेय ने अपने जन्म के सातवें दिन तारकासुर का वध किया। विप्रकृताः—उत्पीडिताः। ( वि + प्र ) + कृ + क्त, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। दिवौकसः—देवगण। दिवम् ( द्यौः वा ) ओकः येषां ते दिवौकसः। स्वर्ग अथवा अन्तरिक्ष में निवास के कारण देवता दिवौकस् ( दिव + ओकस् अथवा द्यु + ओकस्, द्यु—दिव आदेश ) कहे जाते हैं। यहाँ 'दिवौकसः' पद का प्रयोग देवताओं के पर्याय के रूप में 'विप्रकृताः' के साथ इस आशय से हुआ है कि वे अपने वास-स्थान स्वर्ग अथवा अन्तरिक्ष में भी सुरक्षित नहीं थे, बाहर निकलनें की तो बात ही दूर रही। तुरासाहम्—इन्द्र को। तुरं ( वेगवन्तं त्वरितं वा ) साहयति इति तुराषाट्। तुर + सह् + णि + क्विप्। द्वितीया वि०, एकवचन। इन्द्र की ऐसी सामर्थ्य थी कि वह अपने शत्रुओं को अतिशीघ्रता पूर्वक अपने वश में कर लेता था अथवा उन्हें समाप्त कर देता था किन्तु तारकासुर के आगे उसकी एक भी न चली। पुरोधाय—आगे करके अर्थात् नेतृत्व में। पुरस् + धा + क्त्वा (ल्यप्)। इन्द्र देवताओं के नेता हैं अतः सभी देवता सामूहिकरूप में ब्रह्मा के पास गये। स्वायंभुवम्—ब्रह्मा ( स्वयंभू ) सम्बन्धी अर्थात् ब्रह्म के ( धाम = लोक वास-स्थान )। देवताओं का ब्रह्मा के पास जाने में दो कारण हो सकता है। 'स्वयंभू' पद से ब्रह्मा का सर्वसामर्थ्यशालित्व द्योतित होता है। वे सबके वृद्ध पितामह हैं अतः देवता उनसे तारक के शमन का उपाय पूछने गये ताकि उनका त्राण हो सके। इसके साथ ही उनका यह भी मन्तव्य रहा कि इसी बहाने उपालम्भ भी हो जायगा कि उन्होंने ही वर प्रदान करके उसे उद्दण्ड बना दिया है। ययुः—गये। 'या' धातु, लिट् लकार, प्रथम पु०, बहुवचन।

इस प्रसङ्ग में शिवपुराण में भी समान वर्णन मिलता है :—

'एतस्मिन्नन्तरे काले तारकेण दिवौकसः ।
आजौ पराजिता आसन् शक्रदर्पविघातिना ॥
तदा सर्वे तुरासाहं कृत्वाग्रे हतविक्रमाः ।
स्वायंभुवं ययुर्धाम सत्यलोकमिति श्रुतम् ॥'

कालिदास ने ऐसा ही कुछ रघुवंश १०।५ में भी लिखा है ।

इस सर्ग में १ से ६२ श्लोक तक अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है । अनुष्टुप् छन्द का लक्षण है—

'श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥'

अर्थात् इसके प्रत्येक चरण का पाँचवा वर्ण लघु और छठाँ दीर्घ होता है । द्वितीय और चतुर्थ चरण का सातवाँ वर्ण ह्रस्व और तृतीय तथा प्रथम चरण का सातवाँ वर्ण दीर्घ होता है । ज्ञातव्य है कि इस छन्द के प्रत्येक चरण में आठ वर्ण होते हैं और इस प्रकार कुल मिलाकर पूरे श्लोक में बत्तीस वर्ण होते हैं ।

**तेषामाविरभूद्ब्रह्मा परिम्लानमुखश्रियाम् ।**
**सरसां सुप्तपद्मानां प्रातर्दीधितिमानिव ॥ २ ॥**

अन्वय—परिम्लानमुखश्रियाम् तेषां ब्रह्मा सुप्तपद्मानां सरसां प्रातः दीधितिमान् इव आविरभूत् ॥ २ ॥

सञ्जी०—तेषामिति ॥ परिम्लानमुखश्रियाम् परिम्लाना परिक्षीणमुखश्रीः मुखकान्तिः येषां तथोक्तानां तेषां देवानां ब्रह्मा सुप्तपद्मानां मुकुलितारविन्दानां सरसां प्रातः दीधितिमान् सूर्यः इव आविरभूत् । प्रकाशोऽभूदित्यर्थः । 'प्रकाशो प्रादुराविः स्यात्' इत्यमरः । सूर्योपमानेन तेषां म्लानिहरणत्वं सूचितम् । अत्रोपमालङ्कारः । तल्लक्षणं तु—'स्वतः सिद्धेन भिन्नेन सम्मतेन च धर्मतः । साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चैकपदोपमा ॥' इति ॥ २ ॥

निर्वला—परिम्लानमुखश्रियाम् = परिक्षीणमुखकान्तीनाम् । तेषाम् = देवानाम् । ब्रह्मा = स्वयंभूः । सुप्तपद्मानाम् = मुकुलितकमलानाम् । सरसाम् = वापीनाम् । प्रातः = प्रभाते । दीधितिमान् = सूर्यः । आविरभूत् = प्रादुरभूत् ॥२॥

हिन्दी—मुरझायी हुयी मुख शोभा वाले उन देवगणों के ( सम्मुख ) ब्रह्मा,

मुकुलित कमलयुक्त सरोवरों के ( सम्मुख ) प्रातःकाल सूर्य की भाँति प्रकट हुए।

टिप्पणी—परिम्लानमुखश्रियाम्—मुरझायी हुई मुख की शोभा ( कान्ति ) वाले। 'तेषाम्' का विशेषण। मुखस्य श्रीः मुखश्रीः, परिम्लाना मुखश्रीः येषां ते परिम्लानमुखश्रियः, तेषां परिम्लानमुखश्रियाम्। परि + म्लै + क्त = परिम्लान। तारकासुर से पराजित, अपमानित देवताओं का मुख तेज-विहीन हो गया था। ग्लानि और लज्जा के कारण उनका मुख लटक गया था। सुप्तपद्मानाम्—सोये हुये अर्थात् मुकुलित कमलों वाले। 'सरसां' का विशेषण। सुप्तानि पद्मानि येषु तानि सुप्तपद्मानि, तेषां सुप्तपद्मानाम्। कमल सूर्य की उपस्थिति में ही खिलते हैं और उसके अस्त हो जाने पर कमल दल सम्पुटित हो जाते हैं। ऐसा रात्रि में ही होता है। अतएव इसके द्वारा देवताओं की अन्धकारपूर्ण रात्रि अर्थात् घोर कष्ट की व्यञ्जना करायी गयी है। दीधितिमान्—सूर्य। दीधिति + मतुप्। सूर्य कमलों का वल्लभ है। उसके प्रातःकाल उगने पर कमल खिलते हैं और सायं काल अस्त हो जाने पर मुकुलित हो जाते हैं। यहाँ देवताओं की मुखश्री भी मुरझायी हुयी है और ब्रह्मा के द्वारा पुनः वह खिलेगी। इससे ब्रह्मा का सर्व-सामर्थ्य सूचित होता है। इस श्लोक में उपमालङ्कार है।

शिवपुराण में भी लिखा है :—

'दृष्ट्वा तत्र जगन्नाथं विकसत्सु मुखश्रियः।
बभूव पङ्कजानीव प्रातर्दृष्ट्वा दिवाकरम्॥'

**अथ सर्वस्य धातारं ते सर्वे सर्वतोमुखम्।**
**वागीशं वाग्भिरर्थ्याभिः प्रणिपत्योपतस्थिरे॥ ३॥**

अन्वय—अथ सर्वे ते सर्वतोमुखं वागीशं सर्वस्य धातारं प्रणिपत्य अर्थ्याभिः वाग्भिः उपतस्थिरे॥ ३॥

सञ्जी०—अथेति॥ अथ आविर्भावानन्तरं सर्वे ते देवाः सर्वतः समन्ततो मुखानि यस्य तं सर्वतोमुखम्। चतुर्मुखमित्यर्थः। वागीशं वाचां विद्यानामीशं सर्वस्य जगतः धातारं स्रष्टारं ब्रह्माणं प्रणिपत्य नमस्कृत्य। अर्थादनपेताभिः अर्थ्याभिः। अर्थयुक्ताभिरित्यर्थः। 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यत्प्रत्ययः। वाग्भिः उपतस्थिरे। तुष्टुवुरित्यर्थः। 'उपाद्देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वक्तव्यम्' इत्यात्मनेपदम्॥ ३॥

निर्मला—अथ = तदनन्तरम् । सर्वे ते = सर्वे देवाः । सर्वतोमुखम् = चतुर्मुखम् । वागीशम् = ब्रह्माणम् । सर्वस्य = जगतः । धातारम् = स्रष्टारम् । प्रणिपत्य = नमस्कृत्य । अर्थ्याभिः = अर्थयुक्ताभिः । वाग्भिः = वचनैः । उपतस्थिरे उपस्थानं चक्रुः ॥ ३ ॥

हिन्दी—तब वे सभी देवता, चतुर्मुख, वाक्पति और सम्पूर्ण जगत् के स्रष्टा ( ब्रह्मा ) को प्रमाण करके अर्थयुक्त वचनों से स्तुति करने लगे ।

टिप्पणी—सर्वतोमुखम्—सब ओर मुखवाले अर्थात् चतुर्मुख । सर्वतः मुखानि यस्य सः सर्वतोमुखः, तं सर्वतोमुखम् । ब्रह्मा के चार मुख हैं और वे चारों दिशाओं की ओर रहते हैं । वागीशम्—वाणी के स्वामी, वाक्पति । वाचाम् ईशः वागीशः, तं वागीशम् । ब्रह्मा ही समस्त श्रुतियों के स्रोत हैं अतः उन्हें वाणी का स्वामी या पति कहा गया है । सर्वस्य धातारम्—सबकी सृष्टि करने वाले । रजोगुण से युक्त होने के कारण समस्त जगत् की सृष्टि ब्रह्मा द्वारा ही कही गयी है । धर्मशास्त्रों, पुराणों के अतिरिक्त काव्यों में भी अनेकत्र इसकी पुष्टि हुयी है । 'रजोजुषे जन्मनि'—कादम्बरी १ । 'चतुर्वर्गफलं ज्ञानं कालावस्थाश्चतुर्युगाः । चतुर्वर्णमयो लोकस्त्वत्तः सर्वं चतुर्मुखात् ॥'—रघुवंश, १०.२२ । अर्थ्याभिः वाग्भिः—अर्थ युक्त वचनों से । सारगर्भित वाणी से । देवताओं के सम्मुख जब ब्रह्मा प्रकट हुये तो देवताओं ने सर्वप्रथम उन्हें नमस्कार किया और पुनः उन्हें प्रसन्न करने के लिये उनकी स्तुतियाँ करने लगे । स्तुतियों द्वारा ब्रह्मा की चाटुकारी नहीं हो रही थी अपितु उन स्तुतियों का जो भी प्रतिपाद्य विषय था वह ब्रह्मा के सम्बन्ध में अक्षरशः सत्य था । 'अर्थ्याभिः' विशेषण पद का यही अभिप्राय है । उपतस्थिरे—स्तुति करने लगे । उप + स्था, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।

शिवपुराण में लिखा है :—

"ततस्ते लोकधातारं वागीशं सर्वतोमुखम् ।
प्रणिपत्य यथान्यायमिदमाहुस्तदा मुने ॥"

स्तुतिप्रकारमाह 'नमः' इत्यादिभिर्द्वादशभिः श्लोकैः—

**नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने ।**
**गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे ॥ ४ ॥**

अन्वय—सृष्टेः प्राक् केवलात्मने पश्चाद् गुणत्रयविभागाय भेदम् उपेयुषे त्रिमूर्तये तुभ्यं नमः ॥ ४ ॥

सञ्जी०—नम इति ॥ हे भगवन्नित्यध्याहार्य व्याख्येयम् । सृष्टेः प्राक् । 'अन्यारात्'—इत्यादिनाऽञ्चूत्तरपदयोगे पञ्चमी । केवलात्मने एकरूपाय । 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इति श्रुतेः । 'निर्णीते केवलमिति त्रिलिङ्गं त्वेककृत्स्नयोः' इत्यमरः । पश्चात् सृष्टिप्रवृत्तिकाले । गुणत्रयविभागाय विभज्यतेऽनेनेति विभागः । गुणानां सत्त्वादीनां त्रयमेव विभागो यस्य तस्मै । 'गुणाः सत्त्वं रजस्तमः' इत्यमरः । भेदम् उपाधिम् । स्रष्टृत्वादिकमित्यर्थः । उपेयुषे प्राप्तवते । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' इति निपातः । अतएव त्रिमूर्तये ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपिणे तुभ्यं नमः । 'नमः स्वस्ति—' इत्यादिना चतुर्थी । उक्तंच—'नमो रजोजुषे सृष्टौ स्थितौ सत्त्वमयाय च । तमोरूपाय संहारे त्रिरूपाय स्वयंभुवे ॥' इति ॥ ४ ॥

निर्मला—सृष्टेः प्राक् = सर्गात् पूर्वम् । केवलात्मने = मात्रात्मरूपाय । पश्चात् = अनन्तरम् । गुणत्रयविभागाय = सत्त्वादिगुणत्रयविभागाय । भेदम् = उपाधिम् । उपेयुषे = प्राप्तवते । त्रिमूर्तये = ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपिणे । तुभ्यम्=त्वत्कृते । नमः = प्रणामोऽस्ति ॥ ४ ॥

हिन्दी—सृष्टि के पहले केवल आत्मरूप (और इसके) बाद तीनों गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) के विभाजन के लिये (कारणभूत) उपाधि ग्रहण करने वाले (ब्रह्मा-विष्णु-शिवरूप) त्रिमूर्ति-आपको नमस्कार है।

टिप्पणी—सृष्टेः प्राक्—सृष्टि के पूर्व। आशय यह है कि वर्तमान चराचर सृष्टि के पहले ही। क्योंकि सृष्टि का कर्ता तो ब्रह्मा ही है अतः ब्रह्मा से पूर्व सृष्टि होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। केवलात्मने—केवल आत्मरूप, एकरूप। केवलः आत्मा यस्य सः केवलात्मन् (त्मा), तस्मै केवलात्मने। इसका आशय है कि सृष्टि के पूर्व एकमात्र ब्रह्मा की ही सत्ता है। यही परम ब्रह्म कहा जा सकता है। सृष्टि के पूर्व इसकी अन्य अवस्था दृष्टिगोचर नहीं होती—ऐसा कहा जाता है। छान्दोग्योपनिषद् कहती है—'सदेव सोम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम्'—६. २. १। भागवत पुराण भी कहता है—'भगवानेक आसेदमग्र आत्मानां विभुः' ३. ५. २३। गुणत्रयविभागाय—तीनों गुणों के विभाजन के लिये, गुणानां त्रयं गुणत्रयम्, गुणत्रयम् एव विभागः यस्य सः गुणत्रयविभागः, तस्मै गुणत्रयविभा-

गाय। माया अथवा प्रकृति, त्रिगुणात्मिका है। तीनों गुण=सत्त्व, रजस् और तमस्—की साम्यावस्था ही प्रकृति है—यह सांख्यमत है, ईश्वर भी त्रिगुणात्मक है। वह आवश्यकतानुसार इन गुणों के अलग-अलग भेद के आधार पर स्वरूप धारण करता है। त्रिमूर्तये—त्रिमूर्ति के लिये। तिस्रः मूर्तयः यस्य सः त्रिमूर्तिः, तस्मै त्रिमूर्तये। रजोगुणप्रधान ब्रह्मा, सत्त्वगुणप्रधान विष्णु और तमोगुणप्रधान शिव—ये एक ही परमब्रह्म के पृथक् तीन स्वरूप भेद हैं—'रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये स्थितौ प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे। अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः॥'—कादम्बरी १।

यदमोघमपामन्तरुप्तं बीजमज ! त्वया।
अतश्चराचरं विश्वं प्रभवस्तस्य गीयसे॥ ५॥

अन्वय—( हे ) अज ! अपाम् अन्तः त्वया यद् अमोघम् बीजम् उप्तम् अतः चराचरं विश्वं तस्य प्रभवः गीयसे॥ ५॥

सञ्जी०—यदिति॥ न जायत इत्यजः। हे अज ! अपां जलानाम् अन्तः त्वया यद् अमोघम् अवन्ध्यं बीजं वीर्यम् उप्तं निक्षिप्तम्। मुक्तम् इति पाठे विसृष्टमित्यर्थः। 'शुक्रं तेजोरेतसी च बीजवीर्येन्द्रियाणि च' इत्यमरः। अतः ते बीजात् चराचरं स्थावरजङ्गमात्मकम्। समाहारे द्वन्द्वैकवद्भावः। विश्वं जगत्। उत्पन्नमिति शेषः। तस्य विश्वस्य। प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणं गीयसे। 'यतश्चराचरं विश्वं प्रसवस्तस्य गीयते' इति पाठे यद् इदं चराचरं विश्वं तस्य बीजस्य प्रसवो गीयते। लोके इति शेषः। अत्र मनुः—'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्। तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्॥' इति॥ ५॥

निर्मला—हे अज = हे ब्रह्मन्। अपाम् = जलानाम्। अन्तः=गर्भे। त्वया= भवता। यद् अमोघम् = यद् अवन्ध्यम्। बीजम् = वीर्यम्। उप्तम् = निक्षिप्तम्। अतः = अस्मात्। चराचरम् = स्थावरजङ्गमम्। विश्वम् = जगत्। तस्य = जगतः। प्रभवः = कारणम्। गीयसे = कथ्यसे॥ ५॥

हिन्दी—हे अजन्मा ! जल के अन्दर आपके द्वारा जो अनिवार्य फल देने वाला बीज बोया गया, उसी से यह चराचर जगत् है, ( आप ) उसके स्रष्टा कहे जाते हैं।

टिप्पणी—अज—अजन्मा, जन्म न लेनेवाला। न जायते इति अजः। ईश्वर

को अजन्मा कहा गया है। अर्थात् उसके पूर्व उसका कोई कारण विद्यमान नहीं था और यही इस विश्व का आदिकारण है। अतएव वह नहीं हुआ है। अपाम् अन्तः—जल के भीतर। 'अप्' अर्थात् जल का प्रयोग बहुवचन में किया जाता है। सृष्टि और प्रलय विषयक मान्यताओं के अन्तर्गत सृष्टि के पूर्व और प्रलय के बाद सारी पृथ्वी अथाह जल में डूबी रहती है। अमोघम्—निष्फल न होने वाला। न मोघः अमोघः तत् अमोघम्। स्वयं नारायण जिस बीज का वपन करें, वह भला कैसे निष्फल हो सकता है। बीजम् उप्तम्—बीज बोया गया, बीज छिटका या बिखेरा गया। सृष्टि के विषय में यह विवाद है कि कारण रूप में पहले बीज था या वृक्ष (फल)। इसका निर्णय बड़ा कठिन है। क्योंकि बिना बीज के वृक्ष नहीं हो सकता और बिना वृक्ष (फल) के बीज का होना सम्भव नहीं है। यहाँ कवि ने बीज को ही आरंभिक कारण माना है। चराचरम्—जङ्गम-स्थावर। चराश्च अचराश्च तयोः समाहारः, तत् चराचरम्। भूमण्डल पर विद्यमान प्राणिमात्र दो वर्गों में विभाजित हैं—चर अर्थात् चल सकने वाला और अचर अर्थात् एक जगह स्थिर।

तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन्।
प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः॥ ६॥

अन्वय—एकः त्वं तिसृभिः अवस्थाभिः महिमानम् उदीरयन् प्रलयस्थितिसर्गाणां कारणतां गतः॥ ६॥

सञ्जी०—तिसृभिरिति॥ एकः सृष्टेः प्राक्केवलस्त्वं तिसृभिः अवस्थाभिः त्रैगुण्यमयीभिर्हरिहरब्रह्मस्वरूपाभिः महिमानं निजशक्तिमुदीरयन् विजृम्भयन् प्रलयस्थितिसर्गाणाम् अन्तस्थित्युत्पत्तीनां कारणतां गतः। इदं पश्चाद्भेदमुपेयुषे (२।४) इत्यस्य विवरणमतो न गतार्थत्वदोषः॥ ६॥

निमंजा—एकः=केवलं त्वमेव। तिसृभिः अवस्थाभिः=हरिहरब्रह्मरूपाभिः। महिमानम्=निजशक्तिम्। उदीरयन्=विजृम्भयन्। प्रलयस्थितिसर्गाणाम्=अन्तस्थित्युत्पत्तीनाम्। कारणताम्=हेतुत्वम्। गतः=प्राप्तः॥ ६॥

हिन्दी—एक होते हुए भी आप तीनों अवस्थाओं से अपनी शक्ति का विस्तार करते हुये संहार, पालन और सृष्टि की कारण रूपता को प्राप्त हुए हैं।

टिप्पणी—तिसृभिः अवस्थाभिः—तीन दशाओं द्वारा। तीनों गुण की

विभेदकता के आधार पर ईश्वर के तीनों स्वरूप यथार्थतः एक ही उस ब्रह्म की तीन विशेष दशायें हैं, जो कि वह प्रयोजनानुसार धारण कर लेता है। जैसे एक ही जल द्रवरूप में, हिम ठोस रूप में और वाष्प गैस रूप में, तीन भिन्न-भिन्न भौतिक दशाओं में रहते हुए भी तात्त्विक रूप से जल ही है और किसी भी रूप को किसी अन्य रूप में परिवर्तित किया जा सकता है अथवा वातावरण के प्रभाव से वे स्वयं परिणमित होते रहते हैं उसी प्रकार प्रयोजन के अनुसार एक ही ब्रह्म तीन अलग-अलग दशायें धारण करता है। उदाहरणार्थ—'ब्रह्मत्वे सृजते लोकान् विष्णुत्वे पालयत्यपि। रुद्रत्वे संहरत्येव तिस्रोऽवस्थाः स्वयम्भुवः॥' महिमानम्—महिमा को, गौरव को। महिमा से आशय आत्म-शक्ति या प्रभाव से है। 'महिमा' शब्द संस्कृत में पुंल्लिङ्ग है। प्रलयस्थितिसर्गाणाम्—संहार, पालन और सृष्टि ( उत्पत्ति ) की। प्रलयश्च स्थितिश्च सर्गश्च प्रलयस्थितिसर्गाः तेषाम् प्रलयस्थितिसर्गाणाम्। एक ही ब्रह्म तीन दशाओं में इन तीनों क्रियाओं की कारणता को प्राप्त होता है। यहाँ पर कवि द्वारा इन क्रियाओं का सामान्य क्रम उलट दिया गया है। 'स्थिति' तो हर हालत में मध्य में ही रहेगा। केवल 'प्रलय' और 'सर्ग' का स्थान बदला हुआ है। किन्तु एक बात है—प्रलय और सर्ग एक दूसरे के सापेक्ष्य ही होते हैं। बिना प्रलय के सर्ग और बिना सर्ग के प्रलय नहीं हो सकता है। बिना विकास के विनाश कहाँ और बिना विनाश के विकास कहाँ ?

भूतसृष्टिकर्तृत्वमुक्त्वा मिथुनसृष्ट्यर्थं मूर्तिमतो ब्रह्मणो भेदमाह—

स्त्रीपुंसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया।
प्रसूतिभाजः सर्गस्य तावेव पितरौ स्मृतौ॥ ७॥

अन्वय—स्त्रीपुंसौ सिसृक्षया भिन्नमूर्तेः ते आत्मभागौ तौ एव प्रसूतिभाजः सर्गस्य पितरौ स्मृतौ॥ ७॥

सञ्जी०—स्त्रीपुंसाविति॥ स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ। 'अचतुर' इत्यादिनाच्प्रत्ययान्तो निपातः। सिसृक्षया स्रष्टुमिच्छया भिन्नमूर्तेः द्विधाकृतविग्रहस्य ते तवात्मनो देहस्य भागौ आत्मभागौ। 'आत्मा जीवे धृतौ देहे स्वभावे परमात्मनि' इति विश्वः। तावेव भागौ प्रसूतिभाजः उत्पत्तिभाजः। सर्गस्य सृज्यत इति सर्गस्तस्य निखिलसृष्टेरित्यर्थः। माता च पिता च पितरौ। पिता मात्रा इत्येकशेषः। स्मृतौ।

वृद्धेरितिशेषः । अत्र मनुः—'द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् । अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥' इति ॥ ७ ॥

**निर्मला**—स्त्रीपुंसौ = नारीनरौ । सिसृक्षया = निर्माणेच्छया । भिन्नमूर्तेः = विभाजितविग्रहस्य । ते = तव । आत्मभागौ = स्वदेहांशौ । तौ एव=तद्भागौ एव । प्रसूतिभाजः=उत्पत्तिभाजः । सर्गस्य = सृष्टेः । पितरौ = जनकौ । स्मृतौ = कथितौ ॥ ७ ॥

**हिन्दी** स्त्री-पुरुष को निर्मित करने की इच्छा से विभाजित विग्रह वाले आपके स्वदेहांशरूप वे दोनों ही जन्मशील सृष्टि के माता-पिता कहे जाते हैं ।

**टिप्पणी** सिसृक्षया—निर्माण करने की इच्छा से । स्रष्टुम् इच्छया सिसृक्षया । सृज्+सन्+टाप् तृतीया, एक व० । भिन्नमूर्तेः--विभाजित विग्रह वाला । 'ते' का विशेषण । भिन्ना मूर्तिः यस्य सः भिन्नमूर्तिः, तस्य भिन्नमूर्तेः । इसका आशय है कि तत्तद् गुणों के आधार पर अलग अलग स्वरूप ( दशा ) धारण करने वाले ।

आत्मभागौ--देहांश । आत्मनः भागौ आत्मभागौ । एक ही विग्रह द्विधा-कृत हो जाता है । वे ही दोनों भाग एक दूसरे से सम्पृक्त रहते हुये सृष्टि का कारण बनते हैं । इसका तात्पर्य है कि एक ही शरीर का आधा भाग स्त्री और आधा भाग पुरुष बन जाता है । प्रसूतिभाजः--जन्मशील । प्रसूतिं भजन्ति यः सः प्रसूतिभाक् तस्य ।

भगवान् श्रीकृष्णने गीता में कहा है कि—'जातस्य हि ध्रुवं मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।' मृत्यु के बाद जन्म लेना इस संसार का धर्म है ।

पितरौ—माता-पिता । माता च पिता च पितरौ । एक ही स्वरूप में स्थित होते हुये भी सृष्टि करने में समर्थ ब्रह्म किसी बाहरी सहायता की अपेक्षा नहीं करता । उसकी एक मात्र देह का वाम भाग स्त्री और दक्षिण भाग पुरुष हो जाता है । यही पौराणिक अर्धनारीश्वर की कल्पना है । रघुवंश के आरम्भ में कवि ने शिव के इसी स्वरूप की स्तुति की है ।

**स्वकालपरिमाणेन व्यस्तरात्रिदिवस्य ते ।**
**यौ तु स्वप्नावबोधौ तौ भूतानां प्रलयोदयौ ॥ ८ ॥**

**अन्वय**—स्वकालपरिमाणेन व्यस्तरात्रिदिवस्य ते यौ तु स्वप्नावबोधौ तौ एव भूतानां प्रलयोदयौ ॥ ८ ॥

सञ्जी०—स्वकालेति । स्वकालपरिमाणेन स्वकालस्य परिमाणेन । 'चतुर्युगसहस्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते' इत्युक्तरूपेण । व्यस्तरात्रिदिवस्य व्यस्तं विभक्तं रात्रिंदिवं रात्र्यहनी यस्य तस्य । यद्यपि 'अचतुर' इत्यादिसूत्रेण रात्रौ च दिवा च रात्रिंदिवमिति सप्तम्यर्थे वृत्तौ द्वन्द्व इत्युक्तं तथापि 'दोषामन्यमहः' दिवामन्या रात्रिः' इत्यादौ कर्मवदत्रापि प्रातिपदिकार्थवृत्तित्वं कथञ्चित्प्रयोगबलादाश्रयणीयम्। ते तव यौ तु स्वप्नाववोधौ तौ एव भूतानां प्रलयोदयौ संहारसृष्टी । यदाहुः—'यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् । यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं प्रलीयते ।।' इति । एतच्च दैनन्दिनसृष्टिप्रलयाभिप्रायकं महाप्रलयस्य ब्रह्मणो वर्षशतान्ते भावित्वात् ।। ८ ।।

निर्मला—स्वकालपरिमाणेन = चतुर्युगसहस्ररूपैकदिनप्रमाणेन । व्यस्तरात्रिन्दिवस्य = विभक्तरात्र्यहन्याः । ते = तव । स्वप्नावबोधौ = स्वप्नजागरणे । तौ = तथाभूतौ । भूतानाम् = लोकानाम् । प्रलयोदयौ = संहारोत्पत्ती ।। ८ ।।

हिन्दी—अपने समय के परिमाण से विभक्त रात और दिन का आपका जो शयन और जागरण है वही प्राणियों का प्रलय और पुनः सृष्टि है ।

टिप्पणी—स्वकालपरिमाणेन—अपने समय के परिणाम से । स्वस्य कालः स्वकालः, स्वकालस्य परिणामं तेन स्वकालपरिणामेन । एक कल्प में, कृत, त्रेता, द्वापर और कलि—ये चार युग माने गये हैं । इन चारों युगों का परिमाण ४३२०००० मानववर्ष होता है । इनका १००० गुना अर्थात् ४,३२०,०००,००० मानववर्ष का ब्रह्मा का एक दिन होता है और इतनी ही बड़ी रात होती है । व्यस्तरात्रिन्दिवस्य—विभक्त रात और दिन वाला । अर्थात् रात और दिन के रूप में अलग-अलग विभक्त । रात्रौ च दिवा च (समासान्त) रात्रिन्दिवम् । व्यस्तं रात्रिन्दिवं यस्य येन वा, सः, तस्य व्यस्तरात्रिन्दिवस्य । ब्रह्मा के रात और दिन का परिमाण ऊपर बतलाया गया है । इस प्रकार रात और दिन को निश्चित रूप से अलग करके । स्वप्नावबोधौ—शयन और जागरण । स्वप्नश्च अवबोधश्च स्वप्नावबोधौ । मानवों की भाँति देव ब्रह्मादिक भी रात में सोते और दिन में जागते हैं । प्रलयोदयौ—प्रलय और पुनः सृष्टि । प्रलयश्च उदयश्च प्रलयोदयौ । जब ब्रह्मा सो जाते हैं, वही प्राणियों का प्रलय (काल) है । उनके आँख मूँदते ही समग्र सृष्टि का संहार हो जाता है । जब वे जागते हैं तो वही प्राणियों

का पुनः सृष्टि ( काल ) है। जब वे शयन से उठ कर आँखें खोलते हैं तो सृष्टि होने लगती है। इस प्रकार ब्रह्मा का सोना और जागना ही प्राणियों ( समग्र संसार ) का प्रलय और उत्पत्ति है।

शिवपुराण में भी ऐसा ही वर्णन है—

'तवावबोधो भगवन् भूतानामुदयाय च।
प्रलयाय भवेद् रात्रिर्नमस्ते कालरूपिणे ॥'

**जगद्योनिरयोनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः।**
**जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः ॥ ९ ॥**

अन्वय—( हे भगवन् ! ) त्वं जगद्योनिः अयोनिः जगदन्तः निरन्तकः, त्वं जगदादिः अनादिः जगदीशः निरीश्वरः ॥ ९ ॥

सञ्जी०—जगदिति ॥ हे भगवन् ! त्वं जगद्योनिः जगत्कारणं स्वयम् अयोनिः अनादित्वादकारणस्त्वम्। जगदन्तः अन्तयतीत्यन्तः। पचाद्यच्। जगतोऽन्तो जगत्संहर्ता स्वयं निरन्तकः नित्यत्वादन्तरहितः। त्वं जगतामादिः जगदादिः। सृष्टेः प्रागपि सन्नित्यर्थः। अत एव त्वम् अनादिः आदि रहितः। त्वं जगदीशः जगतामीशो नियन्ता स्वयं निरीश्वरः। अनियम्य इत्यर्थः। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतिरेवात्र प्रमाणम्। अत्रायोनिरित्यादौ नञ्तत्पुरुषाश्रयणे विरोधः। बहुव्रीहिणा तु तत्परिहार इति विरोधाभासालंकारः। यथाहुः 'विरोधभासत्वे विरोध' इति ॥ ९ ॥

निर्मला—त्वम् = भवान्। जगद्योनिः = सृष्टिकारणम्। अयोनिः = अकारणः। जगदन्तः = सृष्टिसंहर्ता। निरन्तकः = अन्तरहितः। जगदादिः = सृष्टिपूर्वस्थितः। अनादि = आरम्भरहितः। जगदीशः = विश्वेशः। निरीश्वरः = अनियम्यः ॥ ९ ॥

हिन्दी—हे भगवन् ! आप स्वयं कारण रहित होकर भी संसार के कारण, सृष्टि के संहर्ता होते हुये भी अविनाशी, सृष्टि के आदि में स्थित होकर अनादि और संसार के नियन्ता होते हुये भी स्वयम् अनित्य हैं।

टिप्पणी—जगद्योनिः—संसार की उत्पत्ति में कारण। जगतः योनिः जगद्योनिः। अयोनिः—कारण रहित। नास्ति योनिः यस्य सः अयोनिः। किसी भी कार्य का कारण अवश्य होता है। बिना कारण के कार्य होना असम्भव है।

भगवान् ( ब्रह्म ) इस संसार का कारण है और यह संसार उस ब्रह्म का कार्य है। फिर प्रश्न उठता है कि 'ब्रह्म' किस कारण का कार्य है ? यदि हम उसके कारण की कल्पना करें तो फिर उस कारण के कारण की भी कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार हमें अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी पड़ेगी, तो भी यह सिलसिला समाप्त नहीं होगा। अतएव इस आनन्त्य दोष के परिहार के लिये हम ब्रह्म को ही कारण रहित मानकर इस चराचर प्राणिमय संसार का कारण मानते हैं। जगदन्तः—संसार के संहारक। जगतः अन्तः जगदन्तः। निरन्तकः—अविनाशी, जिसका कोई संहर्ता न हो। निर्गतः अन्तकः यस्मात् सः निरन्तकः। जगदादिः—संसार के आरम्भ में स्थित। जगतः आदिः जगदादिः। अनादिः—जिसका कोई आदि—आरम्भ न हो। अविद्यमानः आदिः यस्य सः अनादिः। जगदीशः—संसार के नियन्ता। जगताम् ईशः जगदीशः। निरीश्वरः—जिसका कोई नियन्ता न हो। निर्गतः ईश्वरः यस्मात् सः निरीश्वरः। वह सबका शासक है किन्तु उसके ऊपर शासन करने वाला कोई नहीं है। उपर्युक्त सभी पद ब्रह्म की सर्वविभुता और अकल्पनीय प्रभाव के सूचक हैं। परस्पर वे एक दूसरे के विरोधी-से प्रतीत होते हैं अतः यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है।

तव तु न प्रपञ्चस्येव जन्मतिरोधानज्ञानेषु परापेक्षेत्याह—

**आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना ।**
**आत्मना कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे ॥ १० ॥**

अन्वय—त्वमात्मानम् आत्मना एव वेत्सि, आत्मनं आत्मना एवं सृजसि कृतिना आत्मना आत्मन्येव प्रलीयसे ॥ १० ॥

सञ्जी०—आत्मानमिति ॥ हे भगवन्। त्वमात्मानं लोकानुग्रहार्थं ब्रह्मरूपेणोत्पिपादयिषितं स्वस्वरूपम् आत्मना एव वेत्सि जानासि। सर्वापि क्रिया कर्तव्यार्थज्ञानपूर्विका इति भावः। तथा आत्मानम् आत्मना एव। आमन्येवेत्यत्रापि सम्बध्यते। स्वस्मिन्नेव सृजसि। अधिष्ठानमपि स्वयमेवेत्यर्थः। 'स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितम्' इति श्रुतेः। कृतिना समर्थेन। इदं सर्वत्र सम्बध्यते। आत्मना स्वेनैव आत्मन्येव प्रलीयसे स्वस्मिन्नेव प्रलीनो भवसि। लीयतेर्दैवादिकात्कर्तरि लट्। 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इति वार्तिकात्सर्वत्रात्मनेति तृतीया। न हि ते प्रपञ्चस्येव ज्ञानोत्पत्तिलयेषु परापेक्षेति फलितार्थः ॥ १० ॥

**निर्मला**—त्वम् = भवान् । आत्मानम् = स्वस्वरूपम् । आत्मना = स्वयमेव । वेत्सि = जानासि । सृजसि = प्रकटयसि । कृतिना = कृतार्थेन । आत्मना = स्वरूपेण । आत्मनि = स्वरूपे । प्रलीयसे = प्रलीनो भवसि ॥ १० ॥

**हिन्दी**—( हे भगवन् ! ) आप अपने को स्वयमेव जानते हैं अपने को स्वयमेव उत्पन्न करते हैं और कार्य पूर्ण हो जाने पर अपने को स्वात्मरूप में लीन कर लेते हैं ।

**टिप्पणी**—यह श्लोक अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तानुसार ब्रह्म का प्रतिपादन करता है । यह सारा संसार एक मात्र ब्रह्म का विवर्त है । अतात्त्विक परिवर्तन 'विवर्त' कहा जाता है । जैसे सर्प में रज्जु की प्रतीति होना । इस प्रकार जब सब कुछ ब्रह्ममय ही है तो ब्रह्म अपने को ही जानता है, अपने को ही पैदा करता है और अपने को अपने में ही लीन कर लेता है । ब्रह्म का यह सर्वशक्तिशालित्व सूचित होता है । वह स्वाधीन है और उसे किसी भी बाह्य उपादान के ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं होती । वह अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित है ।

**द्रवः सङ्घातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः ।**
**व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु ॥ ११ ॥**

**अन्वय**—( हे भगवन् ! त्वं ) द्रवः सङ्घातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मः लघुः गुरुः व्यक्तः व्यक्तेतरः च असि । विभूतिषु ते प्राकाम्यम् ॥ ११ ॥

**सञ्जी०**—द्रव इति ॥ त्वमित्यनुषज्यते । हे भगवन् । त्वं द्रवः सरित्समुद्रादिवद्रसात्मकोऽसि । सङ्घातकठिनः सङ्घातेन निबिडसंयोगेन कठिनो महीधरादिवत् । स्थूलः इन्द्रियग्रहणयोग्यो घटादिवत् । सूक्ष्मः अतीन्द्रियः परमाण्वादिवत् । लघुः उत्पतनयोग्यस्तूलादिवत् । गुरुः हेमाद्रिवदचलनीयः । व्यक्तः कार्यरूपोऽसि । व्यक्तेतरः कारणरूपः च असि । एवं विभूतिषु अणिमादिषु ते तव प्रकामस्य भावः प्राकाम्यं यथाकामत्वम् ॥ ११ ॥

**निर्मला**—द्रवः = तरलः । सङ्घातकठिनः = घनीभूतकठोरः । स्थूलः = ग्राह्य । सूक्ष्मः = अग्राह्यः । लघुः = भारहीनः । गुरुः = भारयुक्तः । व्यक्तः = कार्यरूपः । व्यक्तेतरः = अव्यक्तः । विभूतिषु = सृष्टि-ऐश्वर्येषु । ते = तव । प्राकाम्यम् = यथाकामत्वम् ॥ ११ ॥

**हिन्दी**—हे भगवन् ! आप तरल, घनीभूतकठोर, इन्द्रियग्राह्य, अग्राह्य,

भारहीन, भारयुक्त, कार्यरूप, कारणरूप हैं। सृष्टि के ऐश्वर्यों में आपकी स्वेच्छा ( सर्वप्रभावी ) है।

टिप्पणी—सङ्घातकठिनः—घनीभूत होने से कठोर। सङ्घातेन कठिनः सङ्घातकठिनः। जल आदि द्रव जम कर हिम के रूप में अत्यन्त कठिन हो जाते हैं। पत्थर आदि भी बालू आदि कणों के जमाव से अत्यधिक कठोर होते हैं। व्यक्तेतरः—व्यक्त अर्थात् कार्य से अन्य अर्थात् कारण। व्यक्तात् इतरः व्यक्तेतरः। विभूतिषु—विभूतियों में, ऐश्वर्यों में। विभूतियाँ ( या सिद्धियाँ ) आठ प्रकार की कही गयी हैं—'अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा।

ईशिता वशिता चैव तथा कामावसायिता॥'

सांख्यकारिका के टीकाकार श्री वाचस्पति मिश्र ने नवें प्रकार 'गरिमा' का भी उल्लेख किया है।

इसमें भी महाकवि ने ब्रह्म की सर्वव्यापकता और सर्वरूपता का प्रतिपादन किया है। टीकाकार अरुणगिरिनाथ ने इस श्लोक को छोड़ दिया है और इस पर टीका नहीं की है। इस श्लोक में परिकर अलङ्कार है।

**उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम्।**
**कर्म यज्ञः फलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो गिराम्॥ १२॥**

अन्वय—यासां गिराम् उद्घातः प्रणवः त्रिभिः न्यायैः उदीरणम् कर्म यज्ञः फलं, स्वर्गः त्वं तासां ( गिरां ) प्रभवः ( असि )॥ १२॥

सञ्जी०—उद्घात इति॥ हे भगवन्। यासां गिरां वाचाम् उद्घातः उपक्रमः प्रणवः ओंकारात्मकः। 'ओंकारप्रणवौ समौ' इति। 'स्यादभ्यादानमुद्घात आरम्भः' इति चामरः। इदमुपसंहारस्याप्युपलक्षणम्। 'ब्रह्मणः प्रणवः कुर्यादादावन्ते च सर्वतः। दहत्येनः कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशेषतः॥' इति निरुक्तपरिशिष्टयोर्यास्कः। नीयन्त एभिरर्थविशेषा इति न्यायाः स्वराः। उक्तञ्च—'स्वरविशेषादर्थप्रतिपत्तिः।' 'यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात्' इति। यासां गिरां त्रिभिः न्यायैः उदात्तानुदात्तस्वरितैः स्वरैः उदीरणम् उच्चारणम्। यासां कर्म प्रतिपाद्यमित्यर्थः। यज्ञः ज्योतिष्टोमादिः। न तु चैत्यवन्दनादिरिति भावः। फलं स्वर्गः। कर्मद्वारेति शेषः। कर्मस्वर्गौ ब्रह्मापवर्गयोरप्युपलक्षणे। त्वं तासां गिराम्। वेदानामित्यर्थः। प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणम्। प्रणेता स्मर्ता वा मतभेदेन॥ १२॥

निर्मला—गिराम् = वाचाम् । उद्घातः = उपक्रमः । प्रणवः = ओंकारः । कर्म = विधिः । यज्ञः = अध्वरः । फलम् = परिणामः । स्वर्गः = अमरवासः । तासाम् = तथोक्तानाम् । प्रभवः = उत्पत्तिकारणम् ॥ १२ ॥ त्रिभिः = त्रिसंख्याकैः । न्यायैः = स्वरैः । उदीरणम् = उच्चारणम् ।

हिन्दी—जिन वाणियों का आरम्भ ओंकार, उच्चारण तीनों स्वरों से होता है, जिनका कर्म यज्ञ और फल स्वर्ग है, ( हे भगवन् ! ) आप उन वाणियों के उत्पत्तिकारण हैं ॥ १२ ॥

टिप्पणी—प्रणवः—'ओम्' या ओंकार । प्र + नू + अप्, णत्व । यह परम पवित्र माना जाता है । त्रिगुणात्मक ब्रह्म का पर्याय है । वेदमन्त्रों का पाठ करते समय भी उसके आदि और अन्त में इसका विनियोग ( उच्चारण ) किया जाता है । त्रिभिः न्यायैः—तीन स्वरों से या तीन रीतियों से । मल्लिनाथ ने न्याय का अर्थ करते हुए लिखा है—'नीयन्ते एभिः अर्थविशेषाः इति न्यायाः स्वराः ।' वेदों में स्वर का बहुत महत्त्व है । ये स्वर मुख्य रूप से तीन हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित । स्वर का ध्यान न रखकर यदि त्रुटिपूर्ण पाठ किया जाय तो मन्त्र अभीष्ट अर्थ ( फल ) नहीं प्रदान करते । किन्तु वामन शिवराम आप्टे ने अपने संस्कृत-हिन्दी-कोश में इस श्लोक में प्रयुक्त 'न्याय' का अर्थ पद्धति या रीति ही समीचीन मानते हुए लिखा है कि इसका प्रकटन, ऋक्, यजुस् और सामन् किया गया है । इस श्लोक में कवि वेदों को इसी एकमात्र ब्रह्म से उत्पन्न मानता है ।

सांख्यमतेन स्तुवन्ति—

त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् ।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ॥ १३ ॥

अन्वय—त्वां पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् प्रकृतिम् आमनन्ति, त्वाम् एव तद् दर्शिनम् उदासीनं पुरुषं विदुः ॥ १३ ॥

सञ्जी०—त्वामिति ॥ हे भगवन् । त्वां पुरुषस्यार्थो भोगापवर्गरूपस्तदर्थं प्रवर्तत इति तां पुरुषार्थप्रवर्तिनीं प्रकृतिं त्रैगुण्यात्मकं मूलकारणम् । 'प्रकृतिः पञ्चभूतेषु प्रधाने मूलकारणे' इति यादवः । आमनन्ति कथयन्ति । 'म्ना अभ्यासे' इति धातोर्लट् । 'पाघ्राध्मास्थाम्ना—' इत्यादिना मनादेशः । प्रकृतिपुरुषभेदाग्रहणात्प्रकृतिपुरुषभेदव्यपदेशः । त्वामेव तां प्रकृतिं साक्षित्वेन पश्यतीति तद्दर्शिनम्

उदासीनं कूटस्थं पुरुषं विदुः विदन्ति। 'विदो लटो वा' इति झेर्जुसादेशः। 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' इति श्रुतिरत्रप्रमाणम् ॥ १३ ॥

निर्मला—त्वाम् = भवन्तम्। पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् = भोगापवर्गसाधिकाम्। प्रकृतिम् = मूलकारणम् ( सांख्योक्तम् ) आमनन्ति = कथयन्ति। तद्दर्शिनम् = प्रकृतिसाक्षात्कर्त्तारम्। उदासीनम् = तटस्थम्। विदुः = मन्यन्ते ॥ १३ ॥

हिन्दी—( हे भगवन् ! ) ( सांख्यानुयायी ) तुम्हें भोग-मोक्ष रूप पुरुषार्थ-साधिका प्रकृति कहते हैं और तुम्हें ही प्रकृति का साक्षात्कार करके निवृत्त होने वाला तटस्थ पुरुष भी मानते हैं।

टिप्पणी—पुरुषार्थप्रवर्तिनीम्—पुरुषार्थ ( भोग-मोक्ष ) के लिये प्रवृत्त होने वाली। पुरुषस्य अर्थः पुरुषार्थः पुरुषार्थाय प्रवर्तते इति पुरुषार्थप्रवर्तिनी, ताम्। प्रकृतिम्—प्रकृति, मूलकारण। सांख्य-दर्शन के पचीस तत्त्वों में प्रकृति को प्रधान और सृष्टि का मूलकारण कहा गया है। यह सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीनों गुणों की साम्यावस्था है। इसकी विशेषता है कि यह अचेतन होते हुये भी सक्रिय है। इस प्रकृति का कारण कुछ भी नहीं है। अतएव इसे 'अजा' कहते हैं। अजा होते हुये भी यह महान्, अहंकार आदि के क्रम से सृष्टि करती है और इस सृष्टि में पुरुष उससे सहयोग करता है। तद्दर्शिनम्—उसको देखने वाला, प्रकृति का साक्षात्कार करने वाला। तां पश्यति इति तद्दर्शी, तं तद्दर्शिनम्। पुरुषम्—पुरुष को। सांख्य दर्शन के पचीस तत्त्वों में यह एकमात्र चेतन तत्त्व है। किन्तु चेतन होते हुये भी यह निष्क्रिय अथवा उदासीन है। सृष्टि करने के लिये प्रकृति इससे संयोग करती है और वह संयोग भी अन्धे और लूले के सहयोग के समान है। इस संयोग के कारण प्रकृति चेतन और पुरुष भी सक्रिय-सा प्रतीत होने लगता है। सांख्यमत में पुरुष एक न होकर अनेक हैं।

इस श्लोक में ब्रह्म की स्तुति सांख्य विषयक है। जहाँ सांख्य में प्रकृति और पुरुष दो अलग-अलग तत्त्व हैं वहीं वह ( वर्तमान सांख्य ) निरीश्वरवादी भी है। किन्तु महाभारत आदि में वर्णित सांख्य सेश्वरवादी है। अतएव इस श्लोक में भी प्रकृति और पुरुष को एक ही ब्रह्म का स्वरूप स्वीकार किया है।

त्वं पितृणामपि पिता देवानामपि देवता।
परतोऽपि परश्चासि विधाता वेधसामपि ॥ १४ ॥

अन्वय—त्वं पितृणाम् अपि पिता, देवानाम् अपि देवता, परतः अपि परः च वेधसाम् अपि विधाता असि ॥ १४ ॥

सञ्जी०—त्वमिति ॥ हे भगवन् । त्वं पितृणाम् अग्निष्वात्तादीनाम् अपि पिता । तेषामपि तर्पणीय इत्यर्थः । देवानाम् इन्द्रादीनामपि देवता । तेषामपि यजनीयः इत्यर्थः । परतोऽपि । परश्चासि सर्वोत्तरोऽसीत्यर्थः । 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महांस्ततः ॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥' इति सर्वोत्तरत्वाभिधानात् । वेधसां दक्षादीनाम् अपि विधाता स्रष्टा असि ॥१४॥

निर्मला—त्वम् = भवान् । पितृणाम् = पितरसंज्ञकानाम् । पिता = जनकः । देवानाम् = अमराणाम् । देवता = देवः, यजनीयः । परतः = उत्तमेभ्यः । परः = उत्तमः । वेधसाम् = प्रजापतीनाम् । विधाता = स्रष्टा ॥ १४ ॥

हिन्दी—( हे भगवन् ! ) आप पितृगणों के भी पिता, देवताओं के भी देवता, उत्तमों से भी उत्तम और प्रजापतियों को भी उत्पन्न करने वाले हैं ।

टिप्पणी—पितृणाम् = पितृगणों के; पितरों के । पितृगण या पितरों की एक देवयोनि विशेष है । मनुस्मृति के अनुसार ( ३-१९४ ) ये प्रजापति के पुत्र एवं वंशप्रवर्तक हैं । वेधसाम्—प्रजापतियों के । पुराणों के अनुसार ये ब्रह्मा के पुत्र हैं और इनकी संख्या दश है—'मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः । भृगुर्वशिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः ॥' ये ब्रह्मा के पुत्र प्रजापति उसकी मानसी सन्तान कहे जाते हैं और जब वे समाधिरत थे तब उनके विभिन्न अङ्गों से उत्पन्न हो गये थे । फिर ब्रह्मा की आज्ञा से इन लोगों ने सृष्टि रचना की ।

इस श्लोक में भी भगवान् ( ब्रह्मा ) को सृष्टिकर्त्ताओं का भी उत्पादक माना गया है । यहाँ अनुप्रास अलङ्कार है ।

**त्वमेव हव्यं होता च भोज्यं भोक्ता च शाश्वतः ।**
**वेद्यञ्च वेदिता चासि ध्याता ध्येयं च यत्परम् ॥ १५ ॥**

अन्वय—शाश्वतः त्वम् एव हव्यं होता च, भोज्यं भोक्ता च, वेद्यं वेदिता च, ध्याता यत्परं ध्येयं च असि ॥ १५ ॥

सञ्जी०—त्वमेवेति । शश्वत्सिद्धः शाश्वतः । शैषिकोऽण्प्रत्ययः । यद्यपि 'कालट्ठञ्' इति ठञपवादः अत एव सूत्रकारस्यापि प्रयोगः—'येषां च विरोधः शाश्व-

तिकः' इति। तथापि प्रयोगवशात्साधुरिति वामनः इति शाश्वतः प्रयुक्तः। शाश्वतः त्वमेव। हूयत इति हव्यं हविराज्यादिकम्। जुहोतीति होता। यजमानः च असि। भोज्यमवहार्यमन्नम्। 'भोज्यं भक्ष्ये' इति निपातनात्कुत्वाभावः। भोक्ता अन्नादः च असि। वेद्यं साक्षात्कार्यं वस्तु च वेदिता साक्षात्कर्ता च असि। ध्याता स्मर्ता च यत्परं वस्तु ध्येयं तत् च असि। साक्षात्कारसाधनभूतप्रत्यय विशेषप्रवाहो ध्यानम् ॥ १५ ॥

**निर्मला**—शाश्वतः = सनातनः। त्वम् एव = भवान् एव। हव्यम् = होमसाधनम्। होता = यज्ञकर्ता। भोज्यम् = भक्ष्यम्। भोक्ता = भक्षकः। वेद्यम् = साक्षात्कार्यम्। वेदिता = साक्षात्कर्ता। ध्याता = स्मर्ता। परम् = सर्वोत्कृष्टम्। ध्येयम् = ध्यानयोग्यम् ॥ १५ ॥

**हिन्दी**—( हे भगवन्! ) आप ही सनातन रूप से होमसाधन और यज्ञकर्ता हैं, भक्ष्य हैं और भक्षक हैं; जानने के योग्य और जानने वाले हैं, ध्यान करने वाले और सर्वोत्कृष्ट ज्ञेय भी हैं।

**टिप्पणी**—शाश्वतः—सनातन रूप से। शश्वद् भवः शाश्वतः। शश्वत् + अण्। कुछ विद्वानों का कथन है कि 'कालात् ठञ्' सूत्र का प्रयोग होकर 'शश्वत्' से 'शाश्वतिक' रूप बनाना चाहिये और 'अण्' प्रत्यय लगाकर 'शाश्वत' नहीं बनाना चाहिये। मल्लिनाथ ने भी इस प्रश्न को उठाते हुये, वामन का उल्लेख करते हुए लिखा है कि प्रयोगवश अर्थात् व्यवहार में चल पड़ने से यह रूप भी सिद्ध अथवा उचित मानना चाहिये। 'शाश्वत' का अर्थ सनातन या सर्वकालिक है। इसका अभिप्राय है कि ऐसा कब से है और कब तक रहेगा या होगा—इस प्रकार की काल सीमा जिसके सम्बन्ध में निर्धारित की जा सके, जो अनादि काल से चला आ रहा हो—वह शाश्वत है। अतएव ब्रह्म के विषय में इसका प्रयोग सर्वथा समीचीन है।

इस श्लोक में कवि ने ब्रह्म की सर्वव्यापकता और अभेदता का प्रतिपादन किया है। इसमें भी अनुप्रास अलङ्कार है।

**इति तेभ्यः स्तुतीः श्रुत्वा यथार्था हृदयङ्गमाः।**
**प्रसादाभिमुखो वेधाः प्रत्युवाच दिवौकसः ॥ १६ ॥**

**अन्वय**—वेधाः इति तेभ्यः यथार्थाः हृदयङ्गमाः स्तुतीः श्रुत्वा प्रसादाभिमुखः दिवौकसः प्रत्युवाच ॥ १६ ॥

**सञ्जी०**—इतीति ॥ वेधाः ब्रह्मा इति तेभ्यः देवेभ्यः । 'आख्यातोपयोगे' इत्यपादानत्वात्पञ्चमी । यथार्थाः सत्या अत एव हृदयं गच्छन्तीति हृदयङ्गमाः मनोहराः । 'खच्प्रकरणे गमेः सुप्युपसंख्यानम्' इति खच्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इति मुमागमः । स्तुतीः स्तोत्राणि श्रुत्वा प्रसादाभिमुखः अनुग्रहप्रवणः सन् । दिवौकसः देवान् प्रत्युवाच ॥ १६ ॥

**निर्मला**—वेधाः = ब्रह्मा । इति = इत्थम् । तेभ्यः = देवेभ्यः । यथार्थाः = अर्थानुरूपः, सत्याः । हृदयङ्गमाः = मनोहराः । स्तुतीः = प्रशस्तिवचनानि । श्रुत्वा = आकर्ण्य । प्रसादाभिमुखः = अनुग्रहप्रवणः । दिवौकसः = देवान् । प्रत्युवाच = प्रत्यब्रवीत् ॥ १६ ॥

**हिन्दी**—ब्रह्मा, इस प्रकार उन देवताओं से सत्य एवं मनोहर स्तुति सुनकर कृपा करने के आशय से देवताओं से बोले ।

**टिप्पणी**—यथार्थाः—उचित या अनुरूप अर्थवाली । 'स्तुतीः' का विशेषण । अर्थम् अनतिक्रम्य वर्तन्ते इति यथार्थाः, अथवा, यथा अर्थः यासाम्, ताः यथार्थाः । इसका अभिप्राय है कि जो भी स्तुति की गयी, स्तुति में जिन बातों या तथ्यों का प्रतिपादन किया गया, ब्रह्म का जो भी प्रभाव-स्वभाव बताया गया, उनके सम्बन्ध में जो भी वर्णन किया गया, वह सब सत्य है, तनिक भी असत्य नहीं है । पुराणों एवं धर्म ग्रन्थों में देवताओं को परमस्वार्थी के रूप में चित्रित किया गया है । स्वार्थी व्यक्ति किसी को प्रसन्न करने के लिये झूठी प्रशंसा या चाटुकारी भी करता है । किन्तु, यहाँ देवगणों ने ब्रह्म की सर्वविदित सत्य-स्तुति ही की है । 'यथार्थं' का यही अभिप्राय है । हृदयङ्गमाः—हृदय में प्रवेश करने वाली, मनोहर । हृदयं गच्छति इति हृदयंगमा ( हृदयङ्गम + टाप् ), ताः हृदयङ्गमाः । कर्णप्रिय वाणी ही हृदयावर्जक होती है । जो सुनने में अप्रिय हो, भला उस वाणी के लिये हृदय में स्थान कहाँ ? प्रायः ऐसा देखा-सुना जाता है कि जो सत्य बातें होती हैं वे कटु होती हैं; सत्य भी हों और प्रिय भी हों—ऐसी कम ही मिलती हैं । किन्तु ऐसा असज्जनों के विषय में ही होता है । जो साधु हैं उनसे सम्बन्धित बातें तो सत्य-प्रिय अवश्य होंगी । ब्रह्म विषयक जो भी प्रतिपादन उपर्युक्त

स्तुतियों में किया गया वह सत्य होते हुये हृदयावर्जक भी है। अतएव स्वयं ब्रह्म को भी प्रसन्नता हुयी। प्रसादाभिमुखः—अनुग्रह-तत्पर. कृपा करने में प्रवृत्त हुये अथवा प्रसन्न मुख वाले (ब्रह्म)। प्रसादम् अभिमु :, प्रसादस्य अभिमुखः, प्रसादेन अभिमुखः वा। अपनी यथार्थ प्रशंसा सुनकर भला कौन प्रसन्न नहीं होगा और प्रसन्न होने के बाद प्रशंसा करने वालों का अभीष्ट अवश्य साधेगा।

अथ कविराह—

पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुखसमीरिता।
प्रवृत्तिरासीच्छब्दानां चरितार्था चतुष्टयी ॥ १७ ॥

अन्वय—चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः पुराणस्य कवेः तस्य चतुर्मुखसमीरिता चरितार्था आसीत् ॥ १७ ॥

सञ्जी०—पुराणस्येति ॥ द्रव्यगुणक्रियाजातिभेदेन चत्वारोऽवयवा यस्या इति चतुष्टयी चतुर्विधा। 'संख्याया अवयवे तयप्' इति तयप्। 'टिड्ढाणञ्द्वयसच्—' इत्यादिना ङीप्। शब्दानां प्रवृत्तिः वैखरी प्रमुखा वाग्वृत्तिः। उक्तञ्च—"वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा श्रुतिगोचरा। द्योतितार्था च पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥' इति। पुराणस्य पुरातनस्य। पृषोदरादित्वात्साधुः। कवेः कवयितुः तस्य ब्रह्मणः चतुर्मुखसमीरिता चतुर्भिर्मुखैः समीरिता सती। 'तद्धितार्थ—' इत्यादिनोत्तरपद-समासः। समाहारे चतुर्मुखीति स्यात्। चरितार्था अन्वर्था आसीत्। चतुर्मुखो-च्चारणाच्चातुर्विध्यं सफलमासीदित्यर्थः ॥ १७ ॥

निर्मला—चतुष्टयी = चतुर्विधा। शब्दानां = वर्णसमूहानाम्। प्रवृत्तिः = वाग्वृत्तिः। पुराणस्य = पुरातनस्य। कवेः = त्रिकालदर्शिनः विदुषः। तस्य = ब्रह्मणः। चतुर्मुखसमीरिता = चतुर्मुखोच्चारिता। चरितार्था = अन्वर्था ॥१७॥

हिन्दी—उन पुरातन कवि ब्रह्मा के चारों मुख से उच्चारण की गयी, चतुर्विध शब्दों की प्रवृत्ति चरितार्थ हुयी।

टिप्पणी—चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः—शब्दों की चतुर्विध प्रवृत्ति। चत्वारः अवयवाः यस्याः इति चतुष्टयी। प्रकृष्टा वृत्तिः प्रवृत्तिः। शब्द चार प्रकार के होते हैं। ये द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति के आधार पर प्रयुक्त होते हैं अतः शब्दों की प्रवृत्ति भी चार प्रकार की कही गयी है। मल्लिनाथ ने 'शब्दानां प्रवृत्तिः' का अर्थ 'वाग्वृत्तिः' करते हुये लिखा है—'वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा

श्रुतिगोचरा । द्योतितार्था च पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायनी ।' मम्मट ने काव्य-प्रकाश में लिखा है—'गौः शुक्लश्चलो डित्थ इति चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः इति महाभाष्यकारः ।' किसी भी वस्तु की संज्ञायें वस्तुतः अभिन्न और एक ही होती हैं किन्तु आधार भेद से एक ही वस्तु के लिये प्रयुक्त शब्दों की चतुर्विध प्रवृत्ति होती है। जैसे गाय, चलने वाली, काली और गौरी ( नाम, यदृच्छाप्रदत्त ) आदि। पुराणस्य कवेः—प्राचीन कवि का। कवि के अनेक अर्थ हैं और वे सभी अर्थ यहाँ ठीक बैठते हैं। उन्हीं अर्थों में से एक अर्थ 'ब्रह्मा' भी है। मल्लिनाथ ने 'कवि' का अर्थ 'कवयिता' किया है। 'कवनात् कविः ।' 'निरङ्कुशाः हि कवयः'; 'कवयः तत्त्वदर्शिनः' इत्यादि भी यहाँ 'कवि' के अर्थ में उपयुक्त हैं। चतुर्मुख-समीरिता—चारों मुख से उच्चारण की गयी। चतुर्भिः मुखैः समीरिता चतुर्मुख-समीरिता। सम + ईर् + क्त + टाप्—समीरिता। ब्रह्मा चार मुख वाले कहे गये हैं। शब्दों की चार प्रवृत्तियाँ हैं। अतः चारों प्रकार के शब्द चार मुखों से एक साथ उच्चारित हुये। चरितार्था—फलीभूत, व्यक्त अर्थ वाली। चरितः अर्थः यस्याः सा चरितार्था। महापुरुषों की वाणी प्रयुक्त होने के तत्काल बाद सद्यः फल प्रदान करने वाली होती है। उनका कथन सदैव सार्थक होता है और जिस लिये वे वाक्यव्यवहार करते हैं वह परिणाम या फल प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है या प्राप्त होता है।

भगवानाह—

स्वागतं स्वानधीकारान्प्रभावैरवलम्ब्य वः ।
युगपद्युगबाहुभ्यः प्राप्तेभ्यः प्राज्यविक्रमाः ॥ १८ ॥

अन्वय—( हे ) प्राज्यविक्रमाः स्वान् अधीकारान् प्रभावैः अवलम्ब्य युगपत् प्राप्तेभ्यः युगबाहुभ्यः वः स्वागतम् ॥ १८ ॥

सञ्जी०—स्वागतमिति ॥ हे प्राज्यविक्रमाः प्रभूतपराक्रमा देवाः। 'प्राज्यं भूरि प्रभूतं च' इति यादवः। स्वान् स्वकीयान् अधीकारान् नियोगान्। 'उपसर्गस्य घञि' इति वा दीर्घः। प्रभावैः सामर्थ्यैः अवलम्ब्य आस्थाय। यथाधिकारं स्थित्वा-पीत्यर्थः। युगपत् समकालं प्राप्तेभ्यः। युगपत्प्राप्त्या महत्कार्यमनुमीयते इति भावः। युगबाहुभ्यः। दीर्घबाहुभ्य इत्यर्थः। आजानुबाहुत्वं भाग्यलक्षणम्। वः युष्मभ्यम्। 'बहुवचनस्य वस्नसौ' इति वसादेशः। 'कर्मणा यमभिप्रैति—' इत्यत्र

कर्मपदेन क्रियाग्रहणात्सम्प्रदानत्वम्। स्वागतं शोभनमागमनम्। काकुरत्रानुसन्धेया॥

**निर्मला**—प्राज्यविक्रमाः = प्रभूतपराक्रमाः। स्वान् = स्वकीयान्। अधीकारान् = नियोगान्, कर्तव्यान्। प्रभावैः = सामर्थ्यैः। अवलम्ब्य = समाधृत्य। युगपत् = समकालम्। प्राप्तेभ्यः = आगतेभ्यः। युगबाहुभ्यः = दीर्घभुजेभ्यः। वः = युष्मभ्यम्। स्वागतम् = शुभागमनम्॥ १८॥

**हिन्दी**—अत्यन्त पराक्रमयुक्त देवगण, अपने अधिकारों का सामर्थ्यानुसार निर्वाह करते हुये, एक साथ आये हुये, दीर्घ भुजाओंवाले आप सबका स्वागत है।

**टिप्पणी**—प्राज्यविक्रमाः—अत्यन्त पराक्रम वाले। प्राज्यः विक्रमः येषां ते प्राज्यविक्रमाः। देवगण अतुलनीय पराक्रम वाले कहे जाते हैं। वे सर्वसामर्थ्यशाली हैं। स्वान् अधीकारान्—अपने अधिकारों को, 'अधिकार' को 'अधीकार' भी लिखा जाता है। जो अधिकार है वही कर्तव्य भी कहा जाता है। प्रक्रिया की दृष्टि से इन दोनों में अभेद है। अधिकार का पालन करना कर्तव्य का निर्वाह करना या पालन करना ही कहा जाता है। अवलम्ब्य—धारण करके, निर्वाह करके। अव + लम्ब् + क्त्वा (ल्यप्)। देवगण अपने अधिकारों का पालन अपने प्रभाव मात्र से ही कर देते हैं और उन्हें किसी विशेष चेष्टा या प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। जिस प्रकार प्रजाओं से 'कर' ग्रहण करके उनका पालन करना राजा का अधिकार है और यदि वह प्रभावशाली है तो प्रजायें नियत समय पर निर्धारित कर स्वयमेव समर्पित कर देती हैं और दुष्ट लोग राजा के प्रभावमात्र से भयभीत रहते हैं अतः प्रजा सुख शान्ति का अनुभव करती हैं; उसी प्रकार देवताओं के भी अधिकार का पालन उनके प्रभावों से ही हो जाता है। युगबाहुभ्यः—दीर्घभुजाओं वाले। युगी इव बाहू येषां ते युगबाहवः तेभ्यः युगबाहुभ्यः। लम्बी भुजायें सौभाग्य की सूचक होती हैं। 'युग' का अर्थ जुआ या जुये का डण्डा होता है। वह लम्बा होने के साथ-साथ उत्तम लकड़ी का बना हुआ अतएव मजबूत होता है। यहाँ देवताओं के भुजाओं की उपमा 'युग' से देने का आशय है कि वे आवश्यकतानुसार भार-वहन करने में समर्थ हैं। स्वागतम्—स्वागत है। सु + आगतम्। एम० आर० काले ने लिखा है—'स्वागतं वचनविशेषः। सपद्युपस्थिते मित्रे कुशलं नागतं त्वया। इति यत्प्रश्नवचनं तत्स्वागतमुदाहृतम्।''—चारित्रवर्धन। मल्लिनाथ ने लिखा है कि यहाँ 'काकु' है। काकु

की परिभाषा है—'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते।' शब्दों का एक खास अन्दाज में उच्चारण करने से उनका सामान्य अर्थ बदल जाता है।

किमिदं द्युतिमात्मीयां न बिभ्रति यथा पुरा।
हिमक्लिष्टप्रकाशानि ज्योतींषीव मुखानि वः ॥ १९ ॥

अन्वय—( हे वत्साः ! ) हिमक्लिष्टप्रकाशानि ज्योतींषि इव वः मुखानि पुरा यथा आत्मीयां द्युतिं न बिभ्रति, इदं किम् ? ॥ १९ ॥

सञ्जी०—किमिति ॥ वत्साः इत्युत्तरश्लोकीयं ( श्लोक २८ ) सम्बोधनमत्राप्यनुषञ्जनीयम्। हे वत्साः पुत्रकाः ! हिमक्लिष्टप्रकाशानि हिमेन नीहारेण क्लिष्टप्रकाशानि मन्दप्रभाणि ज्योतींषि नक्षत्राणि इव। 'दीप्तिताराहुताशेषु ज्योतिः' इति शाश्वतः। वः युष्माकं मुखानि पुरा यथा पूर्वमिव आत्मीयां द्युतिं न बिभ्रति। इदं किम्। किं निबन्धनमित्यर्थः। किमिदमित्यनेन वाक्यार्थः परामृश्यते ॥ १९ ॥

विमर्श—हिमक्लिष्टप्रकाशानि = नीहारमन्दप्रभाणि। ज्योतींषि = नक्षत्राणि। वः = युष्माकम्। मुखानि = वदनानि। पुरा = पूर्वम्। यथा = इव। आत्मीयाम् = स्वकीयाम्। द्युतिम् = कान्तिम्। न बिभ्रति = न धारयते। इदं किम् = कथमीदृशम् ॥ १९ ॥

हिन्दी—कुहासे से क्षीण प्रकाश वाले नक्षत्रों की भाँति तुम लोगों का मुखमण्डल पहले जैसी अपनी कान्ति नहीं धारण कर रहा है—यह क्या बात है ?

टिप्पणी—हिमक्लिष्टप्रकाशानि—कुहासे से क्षीण प्रकाश वाले। हिमेन क्लिष्टः प्रकाशः येषां तानि हिमक्लिष्टप्रकाशानि। 'ज्योतींषि' का विशेषण। जाड़े के दिनों में जब वायुमण्डल कुहरे से आच्छन्न रहता है तब पृथिवी पर सूर्य का प्रकाश नहीं पड़ता। घने कुहरे में सूर्य का भी दर्शन नहीं होता और यदि कुहरा झीना है तो सूर्य दिखायी तो देता है किन्तु कान्तिहीन सफेद वृत्त जैसा। वास्तव में तुषार के सूक्ष्म कण वायुमण्डल में सम्पृक्त रूप से अवलम्बित ( Suspended ) होते हैं इस प्रकार उनका धरातलीय वायुमण्डल की मोटाई जितना मोटा पटल बन जाता है जो प्रकाश का अवरोधक होकर सूर्य की किरणों को अवरुद्ध कर देता है। हिम अत्यन्त शीतल होने के कारण उनकी उष्णता भी सोख लेता है। इस प्रकार पूर्ववत् पूर्णरूपेण चमकता हुआ, किरणें बिखेरता हुआ भी सूर्य प्रभाहीन जैसा प्रतीत होता है। सूर्य की ही भाँति हर प्रकाशयुक्त नक्षत्रों

के साथ यही बात होती है। आत्मीयां द्युतिम्—अपनी कान्ति को, अपने तेज को। तारक द्वारा प्रताड़ित देवताओं की मनोव्यथा के आधिक्य से उनके मुख-मण्डल की दीप्ति गायब हो गयी है। उनके मुख मलिन हो रहे हैं और उन पर लेशमात्र भी तेज नहीं दिखाई पड़ रहा है जैसे कि नीहारबाधित प्रकाशयुक्त नक्षत्रों की प्रभा नहीं दिखाई देती। कान्ति युक्त होना देवों की स्वभावसिद्ध विशेषता है। आशय यह है कि देवों के मुखमण्डल की स्वाभाविक दीप्ति ज्यों की त्यों है किन्तु दैत्य से यह तिरोहित हो गयी है। इदं किम्—यह क्या? अर्थात् ऐसा किस लिये या किस कारण? विधाता को यह असामान्य प्रतीत हो रहा है। अतः कोई विशेष कारण अवश्य है। क्योंकि देवों को सामान्य दुःख हतप्रभ नहीं कर सकता।

उक्तमेव प्रपञ्चयति सप्तभिः श्लोकैः—

प्रशमादर्चिषामेतदनुद्गीर्णसुरायुधम् ।
वृत्रस्य हन्तुः कुलिशं कुण्ठिताश्रीव लक्ष्यते ॥ २० ॥

अन्वय—अर्चिषां प्रशमात् अनुद्गीर्णसुरायुधम् एतद् वृत्रस्य हन्तुः कुलिशं कुण्ठिताश्रि इव लक्ष्यते ॥ २० ॥

सञ्जी०—प्रशमादिति ॥ अर्चिषां तेजसां प्रशमात् निर्वाणाद् अनुद्गीर्णसुरायुधम् अनुदितचित्रप्रभमित्यर्थः। एतद् वृत्रस्य हन्तुः इन्द्रस्य कुलिशं वज्रम्। कुण्ठिताः अश्रयो यस्य तत् कुण्ठिताश्रि कुण्ठितकोटि इव लक्ष्यते दृश्यते ॥ २० ॥

निर्मला—अर्चिषाम् = तेजसाम्। प्रशमात् = निर्वाणात्। अनुद्गीर्णसुरायुधम् = अनुद्यतदेवास्त्रम्। एतत् = इदम्। वृत्रस्य हन्तुः = इन्द्रस्य। कुलिशम् = वज्रम्। कुण्ठिताश्रि = कुण्ठितधारम्। इव = यथा। लक्ष्यते = प्रतीयते ॥२०॥

हिन्दी—जिसके कारण देवताओं को शस्त्र उठाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी, ऐसा वह वृत्रहन्ता इन्द्र का वज्र तेज के शान्त हो जाने से कुण्ठितधार जैसा प्रतीत हो रहा है

टिप्पणी—अर्चिषां प्रशमात्—तेज के शान्त हो जाने से। अर्चि के प्रायः तीन अर्थ होते हैं—किरण, ज्वाला और ज्योति। जहाँ ज्योति होगी किरणें अवश्य प्रस्फुटित होंगी। अतएव समग्र रूप से 'अर्चि' का अर्थ ज्योति या तेज लेना ही समीचीन है। जब व्यक्ति या पदार्थ की शक्ति अपना अभीष्ट अर्थ का सम्पा-

दन करने में असफल हो जाती है, तो असफलता अतएव मानहानि के कारण उसका प्रभाव समाप्त-सा, तेज बुझा-बुझा-सा प्रतीत होता है। अनुद्गीर्णसुरायुधम्—अनुद्यतदेवास्त्रवाला। अर्थात् जिसकी वजह से देवताओं को अपना अस्त्र उठाने की (प्रयोग) करने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। मल्लिनाथ सहित अन्य टीकाकारों ने इस पद का भिन्न ही अर्थ किया है। उनके अनुसार, 'जिससे इन्द्र-धनुष की प्रभा या शोभा नहीं प्रकट हो रही है'—यह अर्थ है। चारित्रवर्धन ने भी टिप्पणी की है—'कुलिशरश्मिसमूहादिन्द्रचापोदयः इत्याहुः।' एम० आर० काले ने इस पद का समास-विग्रह किया है—'सुरस्य इन्द्रस्य आयुधं सुरायुधं, अनुद्गीर्णं सुरायुधं येन तत्।' किन्तु यहाँ सुर का अर्थ देव-विशेष इन्द्र न करके देव-सामान्य ही करना अधिक उपयुक्त होगा। यदि इसका समास-विग्रह हम इस प्रकार करें—'सुराणाम् आयुधं सुरायुधम्। न उद्गीर्णम् अनुद्गीर्णं सुरायुधं येन, तत् अनुद्गीर्णसुरायुधम्।'—तो अर्थ स्पष्ट हो जाता है और सम्भवतः यही अर्थ कवि को भी अभिप्रेत है। सर्व सामर्थ्यशाली इन्द्र के वज्र के रहते हुये कभी भी देवताओं को अपने हथियार निकालने या उठाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। वृत्रासुर जैसे दुर्धर्ष शत्रु का वध जिस वज्र ने किया, फिर उसके रहते हुए अन्य देवताओं के आयुधों की क्या आवश्यकता? कुण्ठिताश्रिः—कुण्ठित धार वाला। कुण्ठिताः अश्रयः यस्य तत् कुण्ठिताश्रिः। जिसकी तीक्ष्णता समाप्त हो गयी है ऐसी धार से युक्त। किसी भी धारदार हथियार या उपकरण का प्रयोग करते-करते उसकी धार मोटी हो जाती है और उसका पैनापन गायब हो जाता है। यहाँ 'अश्रि' का अभिप्राय कोणीय या दाँतेदार धार से है। जैसे आरे में दाँते होते हैं। इन्द्र का वज्र महर्षि दधीचि की अस्थियों से बना था। उसे त्वष्टा ने बड़े ही प्रयत्न और कुशलता (कारीगरी) से बनाया था। वृत्र का वध करनेवाला वज्र इस तारक पर कुण्ठित हो गया। आशय है कि तारकासुर, वृत्र से बढ़ कर दुर्धर्ष था।

**किं चायमरिदुर्वारः पाणौ पाशः प्रचेतसः।**
**मन्त्रेण हतवीर्यस्य फणिनो दैन्यमाश्रितः॥ २१॥**

**अन्वय**—किं च अयम् अरिदुर्वारः प्रचेतसः पाणौ पाशः मन्त्रेण हतवीर्यस्य फणिनः दैन्यम् आश्रितः॥ २१॥

सञ्जी०—किञ्चेति ॥ किं च अयम् अरिदुर्वारः रिपुदुष्प्रधर्षः प्रचेतसः वरुणस्य । 'प्रचेता वरुणः पाशी' इत्यमरः । पाणौ पाश, रज्जुरायुधविशेषः । मन्त्रेण गारुडेन हतवीर्यस्य प्रतिबद्धशक्तेः फणिनः सर्पस्य दैन्यं शोच्यत्वम् आश्रितः । अत्रफणिनिष्ठदैन्यस्य पाशेऽसम्भवाद्दैन्यमिव दैन्यमिति कल्पनादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धो निदर्शनालङ्कारः ॥ २१ ॥

निर्मला – किं च = अपि च । अयम् = दृश्यमानः । अरिदुर्वारः = रिपुदुष्प्रधर्षः । प्रचेतसः = वरुणस्य । पाणौ = हस्ते । पाशः = रज्जुरायुधविशेषः । मन्त्रेणः = मन्त्रविशेषेण । हतवीर्यस्य = नष्टौजसः । फणिनः = सर्पस्य । दैन्यम् = शोच्यावस्थाम् । आश्रितः = उपेतः ॥ २१ ॥

हिन्दी–और भी, शत्रु द्वारा अनिवार्य, वरुण के हाथ में स्थित यह पाश, मन्त्र द्वारा नष्ट पराक्रम वाले सर्प की भाँति दीनता को प्राप्त हो गया है ।

टिप्पणी—अरिदुर्वारः—शत्रु द्वारा जिसका निवारण न किया जा सके अर्थात् निश्चित रूप से शत्रु को पराभूत करने वाला । अरिभिः दुर्वारः अरिदुर्वारः । दुर् + वृ + णि + खल्—दुर्वारः । यह 'पाश' का विशेषण है । वरुण का अस्त्र पाश है । पाश का अर्थ है रस्सी का फन्दा । वरुण अपने शत्रु को 'पाश' नामक अस्त्र से पकड़ कर (फँसा कर) मार डालता है । उसके द्वारा प्रयुक्त फन्दे से बच पाना बड़ा मुश्किल है । आजकल भी जङ्गली शिकारी जातियाँ फन्दों का प्रयोग करके शिकार करती हैं । वे फन्दे को इतना सटीक फेंकते हैं कि शिकार (पशु) के गले में वह जाकर फँस जाता है । तब वे उसे आनुपातिक शक्ति से कस कर जीवित या मृत पकड़ लेते हैं । फन्दे द्वारा शेर का भी शिकार किया जाना सुना जाता है । प्रचेतसः—वरुण का । प्रचेतस्, षष्ठी एकवचन । हतवीर्यस्य फणिनः—नष्ट पराक्रम वाले नाग का । हतं वीर्यं यस्य सः हतवीर्यः, तस्य हतवीर्यस्य । फणः अस्यास्ते इति फणी तस्य फणिनः । मन्त्रों में ऐसी प्रभावी शक्ति होती है कि उस शक्ति से उनका वीर्य समाप्त हो जाता है । सर्प का विष ही उसकी शक्ति होती है । विष के कारण ही उनमें ओज होता है । जिस प्रकार विष के प्रभाव से उत्पन्न ओज के नष्ट हो जाने पर सर्प की स्थिति दयनीय हो जाती है, वह सजीव रस्सी के टुकड़े से अधिक कुछ नहीं रह जाता और उससे भय भी समाप्त हो जाता है । उसी प्रकार वरुण का पाश भी, तारकासुर का कुछ भी न बिगाड़ पाने के कारण दीन हो गया है ।

इस श्लोक में निदर्शना अलङ्कार है। वरुण के पाश में मन्त्रप्रभाव से हतवीर्य सर्प की दीनता का निदर्शन है।

कुबेरस्य मनःशल्यं शंसतीव पराभवम्।
अपविद्धगदो बाहुर्भग्नशाख इव द्रुमः॥ २२॥

अन्वय—अपविद्धगदः भग्नशाखः द्रुमः इव कुबेरस्य बाहुः मनःशल्यं पराभवं शंसति इव॥ २२॥

सञ्जी०—कुबेरस्येति॥ अपविद्धा त्यक्ता गदा येन सः अपविद्धगदः। अत-एव भग्नशाखः द्रुमः इव स्थितः कुबेरस्य बाहुः मनःशल्यम्। दुःखहेतुत्वान्मनसः शल्यप्रायमित्यर्थः। पराभवम्। शत्रुकृतमिति शेषः। शंसति इव कथयतीव। लक्षणयानुमापयतीत्यर्थः। बाहौ मुख्यकथनस्यासम्भवादिवशब्दोऽप्यत एव॥२२॥

निर्मला—अपविद्धगदः = त्यक्तगदः। भग्नशाखः = त्रुटितशाखः। द्रुमः = वृक्षः। कुबेरस्य = यक्षाधिपतेः। बाहुः = करः। मनःशल्यम् = मर्मकण्टकम्। पराभवम् = शत्रूत्पीडनम्। शंसति इव = आवेदयति इव॥ २२॥

हिन्दी—शाखारहित पेड़ की भाँति गदाविहीन कुबेर की भुजा मन को चुभन रूप शत्रुकृत अपमान को मानों बतला-सी रही है!

टिप्पणी—अपविद्धगदः—छोड़ी गयी गदा वाला, गदा-विहीन। अपविद्धा गदा यस्मात् येन वा सः अपविद्धगदः। कुबेर का आयुध गदा है। वे अपने दाहिने हाथ में गदा धारण करते हैं। जब उनकी गदा तारकासुर का कुछ न बिगाड़ सकी, तब उन्होंने गदा धारण करना ही छोड़ दिया। भग्नशाखः—टूटी हुई डाली वाला, शाखारहित। भग्ना शाखा यस्य सः भग्नशाखः। गदा से रहित भुजा टूटी हुई डाली वाले वृक्ष की भाँति दिखायी दे रही है। कुबेरस्य—कुबेर की। कुत्सितं बेरं शरीरं यस्य सः कुबेरः। कहा जाता है कि कुष्टि के कारण इनका शरीर अशोभन था। इनके शरीर की आकृति भी विरूप थी। ऐसा वर्णन मिलता है कि इनके शरीर में तीन पैर, आठ दाँत और आँखों के स्थान पर पीले निशानमात्र हैं। ये विश्रवा मुनि के पुत्र अतएव रावण के भाई हैं। पहले ये लङ्का में ही रहते थे किन्तु रावण ने इन्हें वहाँ से भगा दिया तथा इनका पुष्पक यान छीन लिया। ये यक्षों के स्वामी तथा रुद्र के मित्र कहे जाते हैं। इनके पास अक्षय कोश है और ये धन के स्वामी हैं। इनकी राजधानी कैलाश के समीप अलकापुरी है। मनः-

शल्यं पराभवम्—मनोव्यथारूप पराभव को। मनसः शल्यं मनःशल्यं तत्। पराभिः प्रतिकूलाभिः भवतीति पराभवः, तम्। 'शल्य' कहते हैं तीक्ष्ण, नुकीली बरछी, सुई या काँटे को। जिस प्रकार हृदय में चुभा हुआ शल्य पीड़ा देता है उसी प्रकार शत्रुकृत अपमान व्यथित करता है। उस अपमान की याद आते ही हृदय में एक चुभन, एक टीस उठती है। यहाँ गदा से सूनी भुजा मानो कुबेर के ऐसे पराभव को सूचित कर रही है। इस श्लोक में रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

यमोऽपि विलिखन्भूमिं दण्डेनास्तमितत्विषा।
कुरुतेऽस्मिन्नमोघेऽपि निर्वाणालातलाघवम् ॥ २३ ॥

अन्वय—अस्तमितत्विषा दण्डेन यमः अपि भूमिं विलिखन् अमोघे अपि अस्मिन् निर्वाणालातलाघवं कुरुते ॥ २३ ॥

सञ्जी०—यम इति ॥ अस्तमितत्विषा अस्तं नाशमितः प्राप्तः। अस्तमिति मकारान्तमव्ययम्। तस्य 'द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः' इति समासः। अस्तमितास्त्विषो यस्य तेन निस्तेजस्केन दण्डेन यमोऽपि भूमिं विलिखन् अमोघेऽपि। प्रागिति भावः। अस्मिन् दण्डे निर्वाणालातलाघवं निर्वाणालातस्य शान्तोल्मुकस्य। अलातं नाम भूलेखनशलाका तस्य यल्लाघवं क्लैब्यं तत् कुरुते। 'अलातमुल्मुकं ज्ञेयम्' इति हलायुधः। 'निर्वाणोऽवाते इति निपातनान्निष्ठानत्वम्। अत्रापि लाघवमिव लाघवमिति कल्पनान्निदर्शनालङ्कारः ॥ २३ ॥

निर्मला—अस्तमितत्विषा = निस्तेजस्केन। दण्डेन = दण्डायुधेन। यमः = धर्मराजः, कालः। भूमिम् = पृथिवीम्। विलिखन् = खनन्। अमोघे अपि = अवश्यम्भावीपरिणामशीले अपि। अस्मिन् = दण्डे। निर्वाणालातलाघवम् = प्रशान्तोल्मुकक्लैब्यम्। कुरुते = आविष्करोति ॥ २३ ॥

हिन्दी—निस्तेज दण्ड से भूमि को कुरेदता हुआ यमराज भी इस अमोघ दण्ड में बुझे हुये अंगारे की जैसी असामर्थ्य प्रकट कर रहा है।

टिप्पणी—अस्तमितत्विषा—समाप्त हुये तेज वाले। 'दण्डेन' का विशेषण। अस्तमिताः त्विषः यस्य सः, तेन अस्तमितत्विषा—अस्तमितः—अस्तम् + इतः। 'अस्तम्'—यह मकारान्त अव्यय है। पूर्वोक्त देवताओं के आयुधों की भाँति यमराज का आयुध 'दण्ड' भी निस्तेज अतएव प्रभावहीन हो गया था। यमः—यम-

राज। इन्द्र, वरुण और कुबेर की भाँति यह भी लोकपाल हैं। इन्द्र पूर्व दिशा के, वरुण पश्चिम दिशा के, कुबेर उत्तर दिशा के और यम दक्षिण दिशा के लोकपाल हैं। 'यम' प्रेतलोक का स्वामी है और काल या मृत्यु का नियन्ता भी। यह प्राणियों के पापों का दण्ड भी देता है। इसका वाहन महिष (भैंसा) कहा गया है। यह स्वयं काले वर्ण का है। इसकी दोनों आँखें लाल-लाल और चमकने वाली हैं। इसका आयुध 'दण्ड' (डण्डा Rod) है। भूमि विलिखन्--पृथिवी को कुरेदते हुये। जब व्यक्ति अत्यधिक ग्लानि या लज्जा से युक्त होता है तो सिर नीचे किये अँगुली या लकड़ी आदि से भूमि खरोंचने लगता है। यम भी इसी अवस्था को प्राप्त हो गया है। अथवा यह उसके दण्ड के निष्प्रभाव का द्योतक है। जिस दण्ड के स्पर्श मात्र से पृथिवी विदीर्ण हो सकती थी, उसी दण्ड से यम पृथिवी को खुरच रहा है अर्थात् अब दण्ड में कोई शक्ति शेष नहीं है। निर्वाणालातलाघवम्—बुझे हुये अङ्गारे की निष्फलता। निर्वाणं च तत् अलात निर्वाणालातम्, निर्वाणालातस्य लाघवम् निर्वाणालातलाघवम्। जिस प्रकार बुझा हुआ अङ्गारा किसी को जला नहीं सकता, उसी प्रकार यमराज का वह दण्डायुध भी व्यर्थ हो गया है।

**अमी च कथमादित्याः प्रतापक्षतिशीतलाः।**
**चित्रन्यस्ता इव गताः प्रकामालोकनीयताम्॥ २४॥**

**अन्वय**—प्रतापक्षतिशीतलाः अमी आदित्याः च कथं चित्रन्यस्ता इव प्रकामालोकनीयतां गताः॥ २४॥

**सञ्जी०**—अमी इति॥ प्रतापक्षतिशीतलाः प्रतापक्षत्या तेजसां क्षयेण शीतला अमी आदित्याश्च। द्वादशेति शेषः। कथं केन हेतुनेत्यर्थः। चित्रन्यस्ताः चित्रलिखिताः इव। प्रकामालोकनीयताम् प्रकाममत्यन्तमालोकनीयतां दृश्यतां गताः प्राप्ताः॥ २४॥

**निर्मला**—प्रतापक्षतिशीतलाः = तेजःक्षयनिष्प्रभावाः। अमी = एते। आदित्याः = भास्कराः द्वादशेत्यर्थः। कथम् = केन प्रकारेण। चित्रन्यस्ताः इव = चित्रलिखिताः इव। प्रकामालोकनीयताम् = यथेच्छदृश्यताम्। गताः = प्राप्ताः।

**हिन्दी**—तेज नष्ट हो जाने से शीतल ये (बारहों) सूर्य भी किस प्रकार चित्रलिखित की तरह यथेच्छ दर्शनीयता को प्राप्त हो गये हैं।

 BVBSSMV 

**टिप्पणी**—प्रतापक्षतिशीतलाः—तेज-नाश से ठण्डे पड़े हुये। प्रकृष्टः तापः प्रतापः, प्रतापस्य क्षतिः प्रतापक्षतिः, प्रतापक्षत्या शीतलाः प्रतापक्षतिशीतलाः। तारकासुर के समक्ष उनका सारा प्रताप ठण्डा पड़ चुका था। आदित्याः—आदित्यगण। अदितेः अपत्यानि आदित्याः। कश्यप और अदिति के पुत्र आदित्य कहे जाते हैं। इस व्युत्पत्ति के आधार पर प्रायः सभी देवगण आदित्य कहे जायेंगे। किन्तु यहाँ पर 'सूर्य' के बारह स्वरूपों से आशय है। पौराणिक द्वादश आदित्य, वस्तुतः वर्ष के बारहों महीने में तपने वाले एक सूर्य के ही बारह नाम हैं। 'आदित्यहृदय' ( एम० आर० काले द्वारा उद्धृत ) का निम्न उद्धरण ध्यान देने योग्य है—"अरुणो माघमासे तु सूर्यो वै फाल्गुने तथा। चैत्रे मासि च वेदज्ञो वैशाखे तपनः स्मृतः॥ ज्येष्ठे मासि तपेदिन्द्रः आषाढे तपते रविः। गभस्तिः श्रावणे मासे यमो भाद्रपदे तथा॥ इषे हिरण्यरेताश्च कार्तिके च दिवाकरः। मार्गशीर्षे तपेन्मित्रः पौषे विष्णुः सनातनः॥ इत्येते द्वादशादित्याः काश्यपेयाः प्रकीर्तिताः।" चित्रन्यस्ताः—चित्रलिखित। चित्रे न्यस्ताः चित्रन्यस्ताः। नि + अस् + क्त = न्यस्तः। जिस तरह चित्र में चित्रित वस्तु आकृति मात्र से पहचानी जाती है और उसमें सजीवता न होने से किसी भी प्रकार की चेष्टा का अभाव रहता है वैसे ही ये आदित्य भी निष्प्रभ होकर निर्जीव-से अतएव जड—चेष्टा-रहित हो गये हैं। प्रकामालोकनीयताम्—यथेच्छ दर्शनीयता को, अर्थात् जितना चाहे उतना देखे जा सकते हैं। प्रकामम् आलोकनीयता प्रकामालोकनीयता, ताम्। आ + लोक् + अनीयर् + तल् + टाप् = आलोकनीयता। चमकते हुये सूर्य की ओर कोई आँख उठाकर नहीं देख सकता। यदि देखने का यत्न करता है तो आँखें चौंधिया जाती हैं। किन्तु इस समय निष्प्रभ आदित्यों को जो चाहे, जितना चाहे, देख सकता है। इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

**पर्याकुलत्वान्मरुतां वेगभङ्गोऽनुमीयते।**
**अम्भसामोघसंरोधः प्रतीपगमनादिव॥ २५॥**

**अन्वय**—मरुतां पर्याकुलत्वात् वेगभङ्गः अम्भसां प्रतीपगमनात् ओघसंरोधः इव अनुमीयते॥ २५॥

**सञ्जी०**—पर्याकुलेति॥ मरुतां वायूनाम्। सप्तसप्तानामिति शेषः। पर्याकुलत्वात् स्खलितगतित्वाद्धेतोः। वेगभङ्गः वेगस्य भङ्गः अम्भसां जलानां प्रतीप-

613

गमनात् उत्तानावरोहादित्यर्थः । ओघसंरोधः ओघस्य संरोधः प्रवाहप्रतिबन्धः इव अनुमीयते ॥ २५ ॥

निर्मला—मरुताम् = वायूनाम् एकोनपञ्चाशतेत्यर्थः । पर्याकुलत्वात् = स्खलितगतित्वात् । वेगभङ्गः = शीघ्रगामित्वावरोधः । अम्भसाम् = जलानाम् । प्रतीपगमनात् = प्रतिकूलगतेः । ओघसंरोधः = प्रवाहप्रतिबन्धः । अनुमीयते = प्रतीयते ॥ २५ ॥

हिन्दी—मरुद्गणों की स्खलितगति से वेगभङ्ग का अनुमान हो रहा है जैसे कि जल के विपरीत दिशा में बहाये जाने से उसका प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है।

टिप्पणी—मरुताम्—मरुगद्णों अर्थात् वायुओं के। मरुगद्ण संख्या में उनचास (कहीं केवल सात) बताये जाते हैं। कहा जाता है कि ये दिति के पुत्र हैं। इन्द्र द्वारा अपने पुत्रों (दैत्यों) का वध कर दिये जाने पर दिति ने अपने पति को एक इन्द्र हन्ता पुत्र उत्पन्न करने के लिये राजी कर लिया। जब वह गर्भवती हो गयी तो इन्द्र ने सब हाल जान कर उसके गर्भ को अपने वज्र से टुकड़े-टुकड़े कर डाला। उसके गर्भस्थ शिशु के उनचास टुकड़े हो गये और वे सभी टुकड़े पीड़ा से चिल्लाने लगे। फिर दयापूर्वक इन्द्र ने उन्हें जिला लिया और अपने संरक्षण में लेकर देवत्व प्रदान कर दिया। ये ही मरुगद्ण कहलाये। इन्हे ही वायु भी कहा जाता है। गतियों के आधार पर इनके उनचास नाम—पवन, प्रकम्पन, प्रभञ्जन आदि कहे गये हैं। वेगभङ्गः—गति का अवरोध। वेगस्य भङ्गः वेगभङ्गः। इन मरुगद्णों की गति अवरुद्ध हो गयी है अर्थात् उत्साह भङ्ग हो गया है। उन्हें देखने से ही विधाता को ऐसा अनुमान हो गया। प्रतीपगमनात्—प्रतिकूलप्रवाह से। प्रतीपं च तद् गमनं च प्रतीपगमनम् तस्मात्प्रतीपगमनात्। जल सदैव उच्चस्थान से निम्नस्थान की ओर बहता है। अतएव यदि जलधारा को इसकी विपरीत दिशा में अर्थात् नीचे से ऊपर या उतार से चढ़ाव की ओर ले जाया जाय तो उसकी गति क्षीण होकर अवरुद्ध हो जाती है। ओघसंरोधः—प्रवाह की रुकावट। ओघस्य संरोधः ओघसंरोधः। जलधारा के 'ओघसंरोध' अर्थात् प्रवाह के अवरुद्ध हो जाने के बारे में ऊपर कहा जा चुका है।

इस प्रकार मरुद्गण भी वेगभङ्ग के कारण निष्क्रिय हो गये हैं। क्योंकि उनमें जितना ही अधिक वेग होता है, उतना ही अधिक उनका प्रभाव पड़ता है। इस श्लोक में उपमा अलङ्कार है।

**आवर्जितजटामौलिविलम्बिशशिकोटयः ।**
**रुद्राणामपि मूर्धानः क्षतहुंकारशंसिनः ॥ २६ ॥**

**अन्वय**—आवर्जितजटामौलिविलम्बिशशिकोटयः रुद्राणामपि मूर्धानः क्षत-हुङ्कारशंसिनः ॥ २६ ॥

**सञ्जी०**—आवर्जितेति ॥ आवर्जितजटामौलिविलम्बिशशिकोटयः आवर्जितेषु परिभवदुःखावनम्रेषु जटानां मौलिषु जटाजूटेषु विलम्बिन्यः स्रंसिन्यः शशिकोट्यः चन्द्ररेखा येषां ते तथोक्ताः । रुद्राणामपि एकादशानामिति शेषः । मूर्धानः क्षत-हुङ्कारशंसिनः क्षतं हुङ्कारं शंसन्तीति तथोक्ताः । हुङ्कारक्षत्यनुमापका इत्यर्थः । हुङ्कारशस्त्रा हि रुद्रा इति भावः ॥ २६ ॥

**निर्मला**—आवर्जितजटामौलिविलम्बिशशिकोटयः=अवनम्रजटाजूटसंश्लिष्टचन्द्र-कलाः । रुद्राणाम् अपि = एकादशरुद्राणाम् अपि । मूर्धानः=मस्तकाः । क्षतहुङ्कार-शंसिनः = विनष्टहुङ्कृतिसूचकाः ॥ २६ ॥

**हिन्दी**—अपमान से अवनमित जटाजूटों में लटकने वाली चन्द्रकलाओं से युक्त एकादश रुद्रों के मस्तक भी हुङ्कृति के विनाश की सूचना दे रहे हैं ।

**टिप्पणी**—आवर्जितजटामौलिविम्बिशशिकोटयः—अवनमित जटा जूटों में लटकने वाली चन्द्रकलाओं से युक्त । जटानां मौलयः जटामौलयः । आवर्जिताश्च ते जटामौलयश्च आवर्जितजटामौलयः । शशिनः कोटिः शशिकोटिः, ते शशि-कोटयः । आवर्जितजटामौलिषु विलम्बन्ते ताः शशिकोटयः इति आवर्जितजटा-मौलिविलम्बिन्यः शशिकोटयः येषां ते आवर्जितजटामौलिविलम्बिशशिकोटयः । अप-मान से सिर के नीचे झुक जाने पर जटाजूट भी नीचे की ओर झुक गये हैं और उस पर स्थित चन्द्रमा भी नीचे की ओर लटक रहा है । रुद्र अपने भाल पर द्वितीया का चन्द्रमा धारण करते हैं । रुद्राणाम्—रुद्रों की । इनकी संख्या ११ कही गयी है । पैदा होते ही बालकों की भाँति रोने से इनका नाम रुद्र पड़ा । 'यदरोदीः सुरश्रेष्ठ सोद्वेग इव बालकः । ततस्त्वामभिधास्यन्ति नाम्ना रुद्र इति प्रजाः ॥'—(भागवत पुराण ३.१२.१०) । 'रोदनात्तव रुद्रेति नामधेयं भवि-ष्यति ।'—(कूर्म पुराण) । अतएव, रोदनात् रुद्रः, रोदिति इति वा रुद्रः (रुद् + रक्) । पुराणों के अनुसार इनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के मस्तक के मध्यभाग (दोनों भौंहों के बीच, नासिका के ऊपर ) से हुई है । जब ब्रह्मा ने अपने पुत्रों सनक,

सनन्दन आदि से, जो निष्क्रिय पड़े थे, सृष्टि करने में भाग लेने को कहा और उनकी इच्छानुकूल प्रवृत्ति न देखकर ब्रह्मा बहुत क्रुद्ध हो गये। वे अपने क्रोध को रोकें तब तक उनके मध्यमस्तक से ग्यारहों रुद्र उछलकर चमकते हुए सूर्य की भाँति निकल पड़े। ये बड़े ही भयङ्कर हैं। शिव इनमें सर्वप्रधान हुये। कारणानुरूप ये परम क्रोधी हैं। क्षतहुङ्कारशंसिनः—नष्ट हुयी हुङ्कृति की सूचना देने वाले। क्षतश्चासौ हुङ्कारः क्षतहुङ्कारः, क्षतहुङ्कारं शंसन्ति इति ते क्षतहुङ्कारशंसिनः। रुद्रों का आयुध उनका हुङ्कार ही है। तारकासुर के भय से उनकी हुङ्कार भी बन्द हो गयी है।

लब्धप्रतिष्ठाः प्रथमं यूयं किं बलवत्तरैः।
अपवादैरिवोत्सर्गाः कृतव्यावृत्तयः परैः॥ २७॥

अन्वय—प्रथमं लब्धप्रतिष्ठाः यूयं बलवत्तरैः. परैः उत्सर्गाः अपवादैः इव किं कृतव्यावृत्तयः॥ २७॥

सञ्जी०—लब्धेति॥ प्रथमं पूर्वं लब्धप्रतिष्ठाः लब्धस्थितयः। लब्धावकाशा इत्यन्यत्र। यूयं बलवत्तरैः पौरुषातिरेकात्प्रबलतरैः। निरवकाशैरित्यपरत्र। परैः शत्रुभिः। उत्सर्गाः सामान्यशास्त्राणि 'मा हिंस्यात्' इत्येवमादीनि। अपोद्यन्त एभिरिति अपवादैः 'गामालभेत्' इत्यादिभिर्विशेषशास्त्रैः इव किं कृतव्यावृत्तयः कृतप्रतिष्ठाभङ्गाः। कृतविषयसङ्कोचरूपबाधा इत्यन्यत्र। 'विषयसङ्कोच एव बाधः' इत्याचार्याः। निषेधशास्त्रस्य वैदिकहिंसा परिहारेण लौकिकमात्रे व्यवस्थापनाद्विषयसङ्कोच इत्यलमतिगहनावगाहनेन॥ २७॥

निर्मला—प्रथमम् = पूर्वम्। लब्धप्रतिष्ठाः = लब्धसमादराः, लब्धावकाशाः वा। यूयम् = देवाः। बलवत्तरैः = प्रबलतरैः। परैः शत्रुभिः, उत्तरवर्तिभिः वा। उत्सर्गाः = सामान्यनियमाः। अपवादैः = विशेषनियमैः। कृतव्यावृत्तयः = कृत प्रतिष्ठाभङ्गाः, कृतविषयसङ्कोचाः वा॥ २७॥

हिन्दी—जिस प्रकार सामान्य नियम, (उसी शास्त्र के) अपवादों से बाधित हो जाते हैं, वैसे ही पहले लब्ध प्रतिष्ठ आप लोग, अपने से प्रबलतर शत्रुओं द्वारा अपनी प्रतिष्ठा खो चुके क्या?

टिप्पणी—लब्धप्रतिष्ठाः—प्रतिष्ठा को प्राप्त हुये। लब्धा प्रतिष्ठा यैः ते लब्धप्रतिष्ठाः। प्रतिष्ठा का यहाँ दो अर्थ हैं:—प्रथम तो 'यूयं' के सापेक्ष्य और द्वितीय

'उत्सर्गाः' के सापेक्ष्य। पहला अर्थ होगा—सुदृढ़ स्थिति या सम्मानित स्थान। दूसरा अर्थ होगा—प्रक्रिया या सामान्य प्रयोग। बलवत्तरैः—प्रबलतर और अधिक बलशाली। बल + मतुप्—बलवत् ( प्रशस्त अर्थ में मतुप् )। बलवत् + तरप्—बलवत्तर ( अतिशय अर्थ में तरप् , जहाँ दो के मध्य तुलना वाली स्थिति होती है, वहाँ तरप् प्रत्यय होता है )। इससे स्पष्ट है कि इस समय दानव अवश्य ही देवगणों की अपेक्षा शक्तिशाली हैं। उत्सर्गाः अपवादैः इव—अपवादों के द्वारा सामान्य नियमों के समान। जैसे कोई सामान्य नियम है और विशेष नियम बनाकर उसे बाधित कर दिया जाय। सामान्य नियम को बाधा पहुँचाने के कारण विशेष नियम उसकी अपेक्षा प्रबलतर होगा। जैसे सामान्य नियम है—'मा हिंस्यात्' (हिंसा न करे)। यह उत्सर्ग हुआ। अब विशेष नियम बना दिया गया—'अग्निषोमीयं पशुमालभेत्' (अग्नि और सोम से पवित्र व्यक्ति पशु बलि दे)। यह अपवाद हुआ। अथवा 'किसी का भी अमुक स्थान पर जाना मना है'—यदि यह सामान्य नियम है, तो 'राजा उस स्थान पर जा सकता है'—यह अपवाद हो जायगा। अतएव जिस प्रकार अपवाद सामान्य नियमों की प्रतिष्ठा ( Operation ot General Application ) को बाधित कर स्वयं प्रभावी बन जाता है उसी प्रकार की दशा असुरों द्वारा देवताओं की है। कृतव्यावृत्तयः—विषय संकोच या प्रतिष्ठाभङ्ग किये गये। कृता व्यावृत्तिः येषां ते कृतव्यावृत्तयः। देव भागे-भागे फिरते थे। इस श्लोक में उपमा अलंकार है।

**तद्ब्रूत वत्साः किमितः प्रार्थयध्वं समागताः।**
**मयि सृष्टिर्हि लोकानां रक्षा युष्मास्ववस्थिता॥ २८॥**

**अन्वय**—तत् ( हे ) वत्साः समागताः इतः किं प्रार्थयध्वं ब्रूत, मयि लोकानां सृष्टिः रक्षा युष्मासु अवस्थिता हि॥ २८॥

**सञ्जी०**—तदिति॥ तत् तस्मात्कारणात् हे वत्साः पुत्रकाः। 'वत्सस्त्वर्भकपुत्राद्योर्वर्षे वत्सं तु वक्षसि' इति विश्वः। स्वयं पितामहत्वाद्वत्सा इत्यामन्त्रयते। सम्भूयागताः समागताः इतः मत्तः किं प्रार्थयध्वम्। किमिच्छतेत्यर्थः। ब्रूत। लोकरक्षणे यूयमेव कर्तार इत्याह—मयि लोकानां सृष्टिः रक्षा युष्मासु अवस्थिता हि। अतस्तदर्थमपि नास्ति मदपेक्षेत्यर्थः॥ २८॥

**निर्मला**—तत् = अतएव। वत्साः = पुत्रकाः। समागताः = सम्प्राप्ताः।

इतः = मत्तः । किं प्रार्थयध्वम् = किमिच्छते । ब्रूत = कथयत् । मयि = ममाधारेण । लोकानां सृष्टिः = जगदुत्पत्तिः । रक्षा = रक्षणम् । युष्मासु = देवेषु । अवस्थिता हि = स्थापिता हि ॥ २८ ॥

**हिन्दी**—तो हे पुत्रों ! साथ मिलकर आये हुये तुम सब मुझसे क्या चाहते हो ? लोकों की सृष्टि करना मेरे अधीन और रक्षा तुम लोगों पर आश्रित है ।

**टिप्पणी**— वत्साः—बच्चों, पुत्रों ! ब्रह्मा पितामह कहे जाते हैं । वे सभी देवताओं के पूज्य और भगवान् नारायण के ही एक स्वरूप हैं । प्रायः अधिकांश देवगण स्वयम् उनसे ही पैदा हुये हैं । अतएव उन्होंने देवताओं को 'वत्स' कहकर सम्बोधित किया है । अपने से छोटी आयु के लोगों को भी वृद्ध प्यार से 'वत्स' कहकर सम्बोधित करते हैं । इतः—इधर से । यहाँ इसका अर्थ 'मत्तः' अर्थात् मुझसे है । ब्रह्मा पूछते हैं कि तुम लोग जो इकट्ठे होकर आये हो, तो मुझसे क्या चाहते हो ? मैं तुम लोगों की क्या सहायता कर सकता हूँ ? ब्रूत—बोलो, कहो, बताओ । आशय है कि खुलकर कहो, स्पष्ट रूप से बताओ । यहाँ तुम्हारे बोलने में कोई भय नहीं है । यहाँ तारकासुर तुम्हारा कुछ नहीं कर सकता । यद्यपि ब्रह्मा अन्तर्यामी होने से सब कुछ जानते हैं किन्तु वे देवगणों के मुख से कहलवाना चाहते हैं ।

ब्रह्मा ने आगे कहा कि लोकों की सृष्टि ( रचना, निर्माण ) तो मैं करता हूँ और उनकी रक्षा का भार तुम सब पर है । तुम्हीं उनके रक्षक हो । यदि रक्षक स्वयं पीड़ित हो तो भला वह रक्षा क्या करेगा ? इसका तात्पर्य है कि सारी सृष्टि ही भयङ्कर तारकासुर से पीड़ित है ।

**ततो मन्दानिलोद्धूतकमलाकरशोभिना ।**
**गुरुं नेत्रसहस्रेण नोदयामास वासवः ॥ २९ ॥**

**अन्वय**—ततः वासवः गुरुं मन्दानिलोद्धूतकमलाकरशोभिना नेत्रसहस्रेण नोदयामास ॥ २९ ॥

**सञ्जी०**—तत इति ॥ ततः भगवत्प्रश्नानन्तरं वासवः इन्द्रः गुरुं बृहस्पतिम् । 'गुरुर्गीष्पतिपिन्नाद्यो' इत्यमरः । मन्दानिलोद्धूतकमलाकरशोभिना मन्दानिलोद्धूतो यः कमलाकरः स इव शोभत इति तेन तथोक्तेन नेत्रसहस्रेण नेत्राणां

सहस्रेण नोदयामास प्रेरयामास। सहस्रग्रहणमास्थातिशयार्थम्। अनिमेषाणामपि प्रयत्नवशादक्षिस्पन्दो न विरुध्यते ॥ २९ ॥

**निर्मला**—ततः = तदनन्तरम्। वासवः=इन्द्रः। गुरुम् = बृहस्पतिम्। मन्दानिलोद्‌धूतकमलाकरशोभिना = मन्दसमीरणकम्पितपद्माकरकान्तिना। नेत्र-सहस्रेण=नयनसहस्रेण। नोदयामास = प्रेरयामास ॥ २९ ॥

**हिन्दी**—तब मन्द पवन से कम्पित कमलसमूह की कान्ति वाले हजार नेत्रों से इन्द्र ने बृहस्पति को ( बोलने के लिये ) प्रेरित किया।

**टिप्पणी**—वासवः—इन्द्र। 'वासव' की व्युत्पत्ति करते हुये एम० आर० काले ने लिखा है--वासवो देवाः वसूनि रत्नान्यस्य वा सन्तीति। ज्योत्स्नादित्वादण्।' 'वसु + अण् ( स्वार्थे ) वासवः।' गुरुम्--गुरु को। देवताओं के गुरु बृहस्पति हैं। इससे ज्ञात होता है कि बृहस्पति भी देवताओं के साथ ब्रह्मलोक गये हुये थे। क्योंकि आरम्भ में इनका उल्लेख नहीं है। देवगण इन्द्र के नेतृत्व में ब्रह्मलोक आये थे। गुरु के अनेक अर्थ हैं-'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे।' यहाँ गुरु का अर्थ बृहस्पति ही समीचन है। मन्दानिलोद्‌धूतकमलाकरशोभिना—मन्द पवन से कम्पित कमल की शोभावाले। मन्दश्चासौ अनिलः मन्दानिलः, मन्दानिलेन उद्धूतः मन्दानिलोद्धूतः मन्दानिलोद्धूतः च असौ कमलाकरः मन्दानिलोद्धूतकमलाकरः, मन्दानिलोद्‌धूतकमलाकरेण शोभते इति तेन शोभिना। नेत्रसहस्रेण—हजार नेत्रों से। नेत्राणां सहस्रम् इति नेत्रसहस्रं, तेन नेत्रसहस्रेण। इन्द्र के सारे शरीर में हजार आँखें हैं। कहा जाता है कि इन्द्र ने छल से गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या का सतीत्व भङ्ग किया था। गौतम के शाप से उनके शरीर पर हजार भंग (योनि ) हो गये। किन्तु बाद में गौतम के ही कथनानुसार वे सभी योनियाँ नेत्रों के रूप में बदल गयीं।

महाकवि ने इस श्लोक में बड़ी सुन्दर लुप्तोपमा का प्रयोग किया है। इन्द्र के शरीर में हजारों आँखें खिले हुए कमलों के समूह सदृश हैं। जिस प्रकार मन्द हवा से कमल समूह में ईषत् कम्पन हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्र ने बिना मुख से बोले ही, उन हजार आँखों से ही गुरु को प्रेरित किया। संकेत मात्र आँखों से दिया गया। सम्भवतः इन्द्र ने केवल अपनी आँखें गुरु की ओर कर दीं। चारित्रवर्धन ने लिखा है-'स्वतो निर्निमेषाणां नेत्राणामिच्छावशाच्चालनं युज्यते।'

क्योंकि ऐसा कहा जाता है कि देवताओं की पलकें नहीं गिरतीं ( मनुष्यों की भाँति )।

स द्विनेत्रं हरेश्चक्षुः सहस्रनयनाधिकम्।
वाचस्पतिरुवाचेदं प्राञ्जलिर्जलजासनम् ॥ ३० ॥

अन्वय—हरेः सहस्रनयनाधिकं द्विनेत्रं चक्षुः सः वाचस्पतिः प्राञ्जलिः ( सन् ) जलजासनम् इदम् उवाच ॥ ३० ॥

सञ्जी०—स इति ॥ हरेः इन्द्रस्य। इन्द्रो दुश्च्यवनो हरिः' इति हलायुधः। सहस्रान्नयनेभ्योऽधिकं सहस्रनयनाधिकम्। तदगोचरदर्शित्वादिति भावः। द्वे नेत्रे यस्य तद् द्विनेत्रम्। प्रसिद्धाचक्षुषोऽयं विशेष इत्यर्थः। चक्षुः चक्षुर्भूतः। चक्षुष्ट्वारोपस्य प्रकृतोपयोगात्परिणामालङ्कारः। स वाचस्पतिः। कस्कादित्वादलुक्सत्त्वे। षष्ठ्याः 'पतिपुत्र—' इत्यादिना सत्त्वमिति स्वामी तन्न छन्दोविषयत्वात्। प्राञ्जलिः सन्। जलजासनं ब्रह्माणम् इदम् उवाच ॥ ३० ॥

निर्मला—हरेः = इन्द्रस्य। सहस्रनयनाधिकम्=सहस्रनेत्रातिरिक्तम्। द्विनेत्रं चक्षुः = द्विनयनं नेत्रभूतः, दृष्टिवान्। सः वाचस्पतिः=सः बृहस्पतिः। प्राञ्जलिः= बद्धकरः। जलजासनम् = कमलासनम् ब्रह्माणम्। इदम् उवाच = इदम् अब्रवीत ॥ ३० ॥

हिन्दी—इन्द्र की हजार आँखों से भी अधिक दो नेत्ररूप दृष्टिवाले वे बृहस्पति हाथ जोड़ कर ब्रह्मा से बोले—

टिप्पणी—सहस्रनयनाधिकम्—हजार आँखों से अधिक ( बढ़ कर )। सहस्रात् नयनेभ्यः अधिकं, सहस्रनयनाधिकम्। द्वि नेत्रम्—दो नेत्र वाला। द्वे नेत्रे यस्य, तत् द्विनेत्रम्। चक्षुः—आँख, दृष्टि। बृहस्पति के पास दो ही आँखें हैं और इन्द्र के पास हजार आँखें हैं। किन्तु बृहस्पति की दृष्टि, देखने की शक्ति इन्द्र से बढ़कर है। जिसे और जहाँ तक इन्द्र की हजार आँखें भी नहीं देख सकतीं, उसे और वहाँ तक बृहस्पति की दो आँखें ही देखने में समर्थ हैं। 'द्विनेत्र' की व्याख्या करते हुये अरुणगिरिनाथ ने लिखा है—'द्वे नेत्रे यस्य धर्मदृष्टिरर्थदृष्टिश्च। अनेन भगवतो बृहस्पतेः शुक्राद् व्यतिरेको ध्वनितः। स हि बलियज्ञे विरोधमाचरन् भगवता विष्णुना धर्मदृष्ट्या विकलीकृतः।' वाचस्पतिः—वाणी के स्वामी। ब्रह्मा को वाणी का पति कहा जाता है। वाचः पतिः वाचस्पतिः ( अलुक् समास )।

प्राञ्जलिः-हाथ जोड़कर। प्रकृष्टः अञ्जलिः यस्य सः प्राञ्जलिः। दोनों हथेलियों को परस्पर सटाना अञ्जलि बनाना कहा जाता है। 'अञ्जलि' संस्कृत में पुंल्लिङ्ग और हिन्दी में स्त्रीलिङ्ग में व्यवहृत होता है। जलजासनम्-कमलासन को (से)। जले जातं जलजम्। जलजम् आसनं यस्य सः जलजासनः तं जलजासनम्। ब्रह्मा कमल पर बैठते हैं।

**एवं यदात्थ भगवन्नामृष्टं नः परैः पदम्।**
**प्रत्येकं विनियुक्तात्मा कथं न ज्ञास्यसि प्रभो॥ ३१॥**

**अन्वय**—(हे) भगवन् यदात्थ एवं नः पदं परैः आमृष्टं, प्रभो प्रत्येकं विनियुक्तात्मा कथं न ज्ञास्यसि॥ ३१॥

**सञ्जी०**—एवमिति॥ हे भगवन् षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न। यदात्थ 'कृतव्यावृत्तयः परैः (२.२७) इति यद् ब्रवीषि। 'ब्रुवः पञ्चानाम्–' इत्यादिनाहादेशः। 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इति वर्तमानप्रयोगः। वामनस्तु भ्रान्तोऽयं प्रयोगः इत्याह। 'आहेति भूते णलन्तभ्रमवत्' इति। आहेत्युपलक्षणम्। तद् एवं सत्यम्। नः अस्माकं पदम् अधिकारः परैः शत्रुभिः आमृष्टम् आक्षिप्तम्। हे प्रभो प्रत्येकं प्रतिपुरुषं विनियुक्तात्मा प्रवेशितस्वरूपः। सर्वान्तिर्यामीत्यर्थः। कथ न ज्ञास्यसि न वेत्सि। वर्तमानेऽपि वचनभङ्ग्या भविष्यन्निर्देशः प्रसिद्धः। अपह्नवे ज्ञः। अकर्मकाच्च इत्यात्मनेपदविकल्पः॥

**निर्मला** हे भगवन् = हे प्रभो। यद् आत्थ = यद् ब्रवीषि। एवम् = तत्सत्यम्। नः = अस्माकम्। पदम् = अधिकारः। परैः=दानवैः शत्रुभिः। आमृष्टम् = अपहृतम्। प्रभो = ईश्वर। प्रत्येकम् = प्रतिपुरुषम्। विनियुक्तात्मा = प्रवेशितस्वरूपः। कथम् = केन प्रकारेण। ज्ञास्यसि = न वेत्सि॥ ३१॥

**हिन्दी**—भगवन्! आप जो कह रहे हैं वह सब सत्य है। हमारा अधिकार शत्रुओं ने छीन लिया है। हे प्रभु! आप सर्वव्यापक होकर भला कैसे इस बात को नहीं जानते?

**टिप्पणी**—यद् आत्थ–जो कहा। तत्कालिक भूत के अर्थ में अथवा वर्तमान के अर्थ में भूतकालिक प्रयोग। पदम्—स्थान या अधिकार। देवताओं के स्थानों पर, जहाँ देवगण रहते थे; अथवा उनके अधिकारों पर, उनके शत्रु असुरों ने आधिपत्य कर लिया था। इस प्रकार शत्रुओं ने उनका पद छीनकर उन्हें पदच्युत कर दिया

था। प्रत्येकं विनियुक्तात्मा—हर एक के विषय में अपने को विनियुक्त करने वाले अर्थात् सब में आत्मरूप से वर्तमान अथवा प्रत्येक की अलग-अलग जानकारी रखने वाले। एकम् एकं प्रति इति प्रत्येकं। विनियुक्तः आत्मा येन सः विनियुक्तात्मा। जिसने अपने को लगा रखा है। जैसे किसी एक का पीछा करता हुआ व्यक्ति उसकी प्रत्येक गति विधि का ज्ञान रखता है, उसी प्रकार। फिर आप तो अचिन्त्य प्रभाव वाले हैं। एक साथ ही आपकी हर समय हर जगह उपस्थिति रहती है। यह ब्रह्मा की महिमातिशय का द्योतक है।

इस प्रकार यह कैसे हो सकता है कि हम दोनों पर जो कुछ गुजर रहा है, आप न जानते हों। अर्थात् आप सब कुछ जान रहे हैं।

उक्तमेव प्रपञ्चयति—

**भवल्लब्धवरोदीर्णस्तारकाख्यो महासुरः।**
**उपप्लवाय लोकानां धूमकेतुरिवोत्थितः॥ ३२॥**

**अन्वय**—भवल्लब्धवरोदीर्णः तारकाख्यः महासुरः धूमकेतुः इव लोकानाम् उपप्लवाय उत्थितः॥ ३२॥

**सञ्जी०**—भवदिति॥ भवल्लब्धवरोदीर्णः भवतस्त्वत्तो लब्धेन वरेणोदीर्णः उद्धतः। तारकः इत्याख्या नामधेयं यस्य स तारकाख्यः। महानसुरो महासुरः। 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टा पूज्यमानैः' इति तत्पुरुषः। धूमकेतुः उत्पातविशेषः इव लोकानाम् उपप्लवाय उपद्रवाय उत्थितः उत्पन्नः॥ ३२॥

**निर्मला**—भवल्लब्धवरोदीर्णः = भवत्प्राप्तवरोद्धतः। तारकाख्यः = तारकनामा। महासुरः = महादैत्यः। धूमकेतुः इव = अग्निरिव, पुच्छलतारा इव वा। लोकानाम् = जगताम्। उपप्लवाय = विनाशाय। उत्थितः = जातः॥ ३२॥

**हिन्दी**—आपसे वरदान पाकर उद्धत वह तारक नामक महादैत्य धूमकेतु की तरह संसार के विनाश के लिये पैदा हुआ है।

**टिप्पणी**—भवल्लब्धवरोदीर्णः—आपसे वरदान पाकर उद्धत। भवतः लब्धः भवल्लब्धः, भवल्लब्धः च असौ वरः भवल्लब्धवरः, तेन उदीर्णः भवल्लब्धवरोदीर्णः। तारकासुर ने अपनी उग्र तपस्या से ब्रह्मा को प्रसन्न करके वर प्राप्त किया था। पूरा विवरण इसी सर्ग के प्रथम श्लोक की टिप्पणी में दिया जा चुका है।

तारकाख्यः—तारक नाम वाला। तारकः आख्या यस्य सः तारकाख्यः।

महासुरः—महादैत्य। महांश्चासौ असुरः महासुरः। अत्यन्त प्रतापी और दुर्धर्ष होने के कारण वह महासुर हुआ। धूमकेतुः—पुच्छलतारा या अग्नि। धूमः केतुः यस्य सः धूमकेतुः॥ अपने ऊपर धूम धारण करने के कारण अग्नि की भी धूमकेतु संज्ञा है। किन्तु यहाँ पर अग्नि अभिप्रेत अर्थ नहीं है। यहाँ धूमकेतु या पुच्छलतारा नामक आकाशीय उत्पातविशेष से आशय है। धूमकेतु आकाशीय पिण्ड होते हैं और जो पृथिवी के समीप या सूर्य के समीप आने पर दृष्टिगोचर होते हैं। सामान्य आकार के सिर जैसी रचना वाले इस पिण्ड की पूँछ की लम्बाई बहुत अधिक होती है और सम्भवतः इसकी पूँछ में असंख्य छोटे-छोटे पिण्ड या तारे होते हैं। यह जब आकाश में दिखाई पड़ जाता है तो लोग तरह-तरह के अनिष्ट की आशङ्का करने लगते हैं। यह सुपरीक्षित है कि इसका दिखाई पड़ना अनिष्ट का सूचक है। गार्ग्य संहिता में कहा गया है—'उत्तिष्ठति यदा भीमो धूमकेतुर्नभस्थले। तदा विनश्यति क्षिप्रं जगद्वेतच्चराचरम्॥' लोकानाम्—लोकों के अथवा लोगों के। उपप्लवाय—उत्पीड़न अथवा विनाश के लिये। उत्थितः—पैदा हुआ, निकला हुआ, उठा हुआ। इस श्लोक में उपमा अलङ्कार है।

**पुरे तावन्तमेवास्य तनोति रविरातपम्।**
**दीर्घिकाकमलोन्मेषो यावन्मात्रेण साध्यते॥ ३३॥**

**अन्वय**—अस्य पुरे रविः तावन्तम् एव आतपं तनोति यावन्मात्रेण दीर्घिकाकमलोन्मेष, साध्यते॥ ३३॥

**सञ्जी०**—पुर इति॥ अस्य तारकस्य पुरे रविः सूर्यः तावन्तं तावन्मात्रम् एव आतपं तनोति यावन्मात्रेण यावतैव। यावतीमात्रा मितिर्यस्य यावन्मात्रं तेन वा। अल्पपरिणामेनेत्यर्थः। 'मात्रा परिच्छदे। अल्पे च परिणामे स्यान्मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे॥' इत्यमरः। दीर्घिकाकमलोन्मेषः दीर्घिकासु क्रीडावापीषु कमलानामुन्मेषो विकासः साध्यते निष्पाद्यते। कठोरकिरणोऽपि मन्दोष्णाः सन्नेव तद्भीत्या पुरे प्रकाशते इत्यभिप्रायः॥ ३३॥

**निर्मला**—अस्य = तारकस्य। पुरे = नगरे। रविः = सूर्यः। तावन्तम् एव = तावन्मात्रमेव। आतपम् = घर्मम्। तनोति = विस्तारयति। यावन्मात्रेण = यावत्परिमाणेन। दीर्घिकाकमलोन्मेषः = वापीपङ्कजविकासः। साध्यते = निष्पाद्यते॥ ३३॥

**हिन्दी**—इसके नगर में सूर्य उतना ही घाम फैलाता है जितने से कि बावड़ी के कमलों का खिलना सम्भव है।

**टिप्पणी**—तावन्तम् एव—उतना ही अर्थात् जितनी आवश्यकता है, केवल उतने परिमाण तक। सूर्य का धूप फैलाना आवश्यक है। यदि सूर्य धूप नहीं फैलाता है तो तारकासुर के कमल नहीं खिलेंगे। इसलिये उसने आज्ञा दे रखी है कि सूर्य उतना ही तेज प्रकाश करे जितने से कि कमल खिल जाँय। अधिक प्रकाश करके सन्तप्त न करे। सूर्य उसके भय से उसकी आज्ञानुसार ही प्रकाश करता है। दीर्घिकाकमलोन्मेषः—कमलानाम् उन्मेषः कमलोन्मेषः, दीर्घिकासु कमलोन्मेषः दीर्घिकाकमलोन्मेषः। दीर्घा इव दीर्घिका। संज्ञायां कन्। लम्बी बावड़ी, जो क्रीडोद्यान अथवा नगर के किसी सुन्दर स्थान पर कृत्रिम रूप से बनायी जाती है। इसमें प्रायः कमल पुष्प उगाये जाते हैं और कभी रंग-बिरंगी मछलियाँ भी छोड़ दी जाती हैं।

शिवपुराण में लिखा है—

'तदन्तःपुरवर्तिन्यो दीर्घिकाः सन्ति या प्रभो।
तासां पद्मोदयायैव विवस्वान् भाति केवलम्॥'

**सर्वाभिः सर्वदा चन्द्रस्तं कलाभिर्निषेवते।**
**नादत्ते केवलां लेखां हरचूडामणीकृताम्॥ ३४॥**

**अन्वय**—चन्द्रः तं सर्वदा सर्वाभिः कलाभिः निषेवते, केवलां हरचूडामणीकृतां लेखां न आदत्ते॥ ३४॥

**सञ्जी०**—सर्वाभिरिति॥ चन्द्रः तं तारकं सर्वदा। कृष्णपक्षेऽपीत्यर्थः। सर्वाभिः कलाभिः निषेवते। 'कला तु षोडशो भागः' इत्यमरः। केवलां हरचूडामणीकृतां शिवशिरोमणीकृतां लेखां न आदत्ते न गृह्णाति॥ ३४॥

**निर्मला**—चन्द्रः = चन्द्रमा। तम् = तारकम्। सर्वदा=नित्यम्। सर्वाभिः = समस्ताभिः। कलाभिः = अंशैः। निषेवते = भजते। केवलाम् = एकाम्। हरचूडामणीकृताम् = शिवशिरोऽवतंसभूताम्। लेखाम् = कलाम्। न आदत्ते = न गृह्णाति॥ ३४॥

**हिन्दी**—चन्द्रमा, शिव की चूडामणि बनी हुई कला को छोड़कर, शेष अपनी सम्पूर्ण कलाओं से सदैव उसकी सेवा करता है।

टिप्पणी—सर्वाभिः कलाभिः—सम्पूर्ण कलाओं से। चन्द्रमा की कुल सोलह कलायें कही गयी हैं। शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा प्रतिपदा से आरम्भ करके प्रतिदिन एक-एक कला बढ़ता हुआ पूर्णमासी को सम्पूर्ण कलाओं के साथ उदित होता है। कला, वास्तव में उसकी अवस्था-विशेष ( Phase ) ही है। पुनः कृष्णपक्ष में क्रमशः एक-एक कला घटता हुआ अमावस्या को कलारहित हो जाता है। चन्द्रमा भी तारकासुर की आज्ञा के अधीन है और हमेशा अपनी सम्पूर्ण कलाओं से उसकी सेवा में उपस्थित रहता है। हरचूडामणीकृताम्—शिव की चूडामणि बनाई गयी। हरस्य चूडामणीकृता, हरचूडामणीकृता, तां हरचूडामणीकृताम्। चूडा-मणी + च्वि + कृ + क्त + टाप्—चूडामणीकृता। लेखाम्—चन्द्रकला को। शिव अपनी जटा में द्वितीया का चन्द्रमा धारण करते हैं। तारकासुर ने शिव की जटा की चन्द्रकला इस लिये नहीं ली क्योंकि शिव असुरों के भी पक्षपाती देवता हैं। प्रसन्न रहने पर वे असुरों की सहायता खुल कर करते हैं। अतः तारकासुर उन्हें नाराज नहीं करना चाहता था।

शिवपुराण में लिखा है—

'चन्द्रस्तु तं सदाकालं कलाभिः परिषेवते।
चन्द्रशेखरमूर्धस्थां कलामेकां विहाय च॥'

**व्यावृत्तगतिरुद्याने कुसुमस्तेयसाध्वसात्।**
**न वाति वायुस्तत्पार्श्वे तालवृन्तानिलाधिकम्॥ ३५॥**

अन्वय—वायुः कुसुमस्तेयसाध्वसात् उद्याने व्यावृत्तगतिः तत्पार्श्वे तालवृन्तानिलाधिकं न वाति॥ ३५॥

सञ्जी०—व्यावृत्तेति॥ वायुः कुसुमस्तेयसाध्वसात् स्तेनस्य भावः कर्म वा स्तेयं चौर्यम्। 'स्तेनाद्यन्नलोपश्च' इति यत्प्रत्ययो नलोपश्च। कुसुमानां स्तेयं तस्मात्स्तेयाभियोगाद्दण्डाद्वा साध्वसं भयं तस्माद्धेतोः उद्याने व्यावृत्तगतिः। निवृत्तोद्यानसञ्चारः सन्नित्यर्थः। सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः। तत्पार्श्वे तत्समीपे तालवृन्तानिलाधिकं तालस्य वृन्तैरुह्यते तालस्येव वृन्तमस्येति वा तालवृन्तं तस्यानिलाद्व्यजनसञ्चारपवनादधिकं यथा तथा न वाति। 'व्यजनं तालवृन्तकम्' इत्यमरः॥ ३५॥

निर्मला—वायुः=पवनः। कुसुमस्तेयसाध्वसात्=पुष्पचौर्यभयात्। उद्याने =

वाटिकायाम् । व्यावृत्तगतिः = निवृत्तसञ्चारः । तत्पार्श्वे = तारकसमीपे । तालवृन्तानिलाधिकम्=तालवृन्तव्यजनपवनातिरिक्तम् । न वाति = न प्रवहति ॥३५॥

हिन्दी—पवन पुष्पों की चोरी ( लगाये जाने ) के भय से उसके उपवन में न बह कर ( अपितु ) उसके समीप ताड़ पंखे की हवा से अधिक गति से नहीं बहता ।

टिप्पणी—कुसुमस्तेयसाध्वसात्—फूलों की चोरी के भय से । कुसुमानां स्तेयं कुसुमस्तेयम्, कुसुमस्तेयात् साध्वसं कुसुमस्तेयसाध्वसं, तस्मात् कुसुमस्तेयसाध्वसात् । हवा जब जोर से बहती है, तो वृक्षों-पौधों से फूल-पत्तियाँ टूट कर गिरते हैं । टूटने के बाद वे हवा के वेग से दूर तक उड़ते चले भी जाते हैं । शिथिल वृन्त वाले पुष्प तो साधारण हवा से भी टूट पड़ते हैं । तारक के नगर में पवन डरता रहता है कि कहीं उसे फूलों की चोरी न लगा दी जाय और इस कारण दण्ड का भागी होना पड़े । चारित्रवर्धन ने इस पर टिप्पणी करते हुये लिखा है—'यद्यहमधिकं वहेयं तर्हि कदाचिदुद्यानपुष्पापहारादपराधी भवेयमिति भावः । व्यावृत्तगतिः—परित्यक्त गति वाला । व्यावृत्ता गतिः यस्य सः व्यावृत्तगतिः । वि + आ + वृत् + क्त— वृत्त । पवन ने तारकासुर के उद्यान में जाना छोड़ दिया कि कहीं उसे फूलों की चोरी न लगा दी जाय । तत्पार्श्वे—उसके समीप में । तस्य पार्श्वम्, तत्पार्श्वम्, तस्मिन् तत्पार्श्वे । वायु तारकासुर के समीप उसके सेवार्थ रहता है अथवा इस लिये भी कि कहीं तारक यह न सोचे कि वह भाग गया है । अतः उसे विश्वास दिलाने के लिये । तालवृन्तानिलाधिकम्—ताड़ के पंखे की हवा से अधिक । तालवृन्तस्य अनिलः तालवृन्तानिलः तस्माद् अधिकं तालवृन्तानिलाधिकम् । जैसे किसी को ताड़ का पंखा झला जाय तो जितनी वायु लगेगी, उससे अधिक मात्रा या गति तारकासुर के समीप वायु की नहीं रहती थी अपितु अति मन्द ।

पर्यायसेवामुत्सृज्य पुष्पसम्भारतत्पराः ।
उद्यानपालसामान्यमृतवस्तमुपासते ॥ ३६ ॥

अन्वय— ऋतवः पर्यायसेवाम् उत्सृज्य पुष्पसम्भारतत्पराः उद्यानपालसामान्यं तम् उपासते ॥ ३६ ॥

सञ्जी०—पर्यायेति ॥ ऋतवः षड् वसन्तादयः पर्यायसेवां क्रमसेवाम् उत्सृज्य

पुष्पसम्भारतत्पराः पुष्पाणां सम्भारे सङ्ग्रहे तत्पराः आसक्ताः सन्तः इत्यर्थः। 'तत्परे प्रसितासक्तौ' इत्यमरः। उद्यानपालसामान्यं उद्यानपालैरुद्यानाधिकृतैः सामान्यं साधारणं यथा भवति तथा तं तारकम् उपासते सेवन्ते। शीतोष्णादिदोषप्रकाशनं तु दूरापास्तमित्यर्थः ॥ ३६ ॥

**निर्मला**—ऋतवः = षड्वसन्तादयः। पर्यायसेवाम्=क्रमबद्धताम्। उत्सृज्य= परित्यज्य। पुष्पसम्भारतत्पराः = कुसुमचयनासक्ताः। उद्यानपालसामान्यम् = उपवनरक्षकवत्। तम् = तारकम्। उपासते = सेवन्ते ॥ ३६ ॥

**हिन्दी**—ऋतुयें अपनी क्रमबद्धता को त्याग कर फूलों को जुटाती हुई बाग के मालियों की तरह उसकी सेवा में लगी हुयी हैं।

**टिप्पणी**—पर्यायसेवाम्—क्रमबद्ध सेवा को। पर्यायेण सेवा पर्यायसेवा, तां पर्यायसेवाम्। वर्ष भर में कुल छः ऋतुयें मानी गयी हैं। इनका एक निश्चित क्रम है। उसी क्रम से आती जाती हैं और लोक की सेवा करती है। इसकी क्रमबद्धता इस प्रकार है—'शिशिरश्च वसन्तश्च ग्रीष्मो वर्षा शरद्धिमः।' उत्सृज्य—छोड़कर, त्यागकर। उत् + सृज् + क्त्वा (—ल्यप्)। ऋतुओं ने क्रमबद्धता छोड़ दी है। अर्थात् सभी ऋतुयें साथ-साथ उसकी सेवा में लगी हुई हैं। पुष्पसम्भारतत्पराः—पुष्पराशि को जुटाने में लगी हुयी। पुष्पाणां सम्भारः पुष्पसम्भारः, पुष्पसम्भारे तत्पराः पुष्पसम्भारतत्पराः। प्रत्येक ऋतुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के सुन्दर फूल खिलते हैं। जब सारी ऋतुयें एक साथ उपस्थित हों तो भला कितना अधिक फूल जुट गया होगा। इस प्रकार ऋतुओं की सदैव यह कोशिश होती है कि अधिक से अधिक फूल खिले रहें। इसका आशय है कि तारकासुर के बगीचों में सभी ऋतुओं में खिलने वाले सारे फूल सदैव एक साथ खिले रहते हैं। उद्यानपालसामान्यम्—साधारण माली की भाँति। उद्यानं पालयति इति उद्यानपालः, उद्यानपालैः सामान्यम् उद्यानपालसामान्यम्। जिस प्रकार कोई माली किसी बगीचे के स्वामी द्वारा नियुक्त होकर प्रयत्नपूर्वक बाग की सुरक्षा करता हुआ मेहनत से सुन्दर-सुन्दर फूल उगाता है और उसकी देखभाल करता है तथा स्वामी के उपस्थित होने पर अच्छे-अच्छे फूल उसकी सेवा में भेंट करता है, उसी प्रकार ऋतुयें भी तारकासुर द्वारा नियुक्त हैं।

तस्योपायनयोग्यानि रत्नानि सरितां पतिः ।
कथमप्यम्भसामन्तरा निष्पत्तेः प्रतीक्षते ॥ ३७ ॥

**अन्वय**—सरितां पतिः तस्य उपायनयोग्यानि रत्नानि अम्भसाम् अन्तः आनिष्पत्तेः कथमपि प्रतीक्षते ॥ ३७ ॥

**सञ्जी०**—तस्येति ॥ सरितां पतिः समुद्रः तस्य तारकस्य उपायनयोग्यानि उपायनानां प्राभृतानां योग्यानि । 'प्राभृतं तु प्रदेशनम् उपायनम्' इत्यमरः । रत्नानि-अम्भसाम् अन्तः आनिष्पत्तेः परिपाकपर्यन्तम् । विकल्पादसमासः । कथ-मपि महता यत्नेन प्रतीक्षते । कदा वा परिपच्येरन्नित्येकाग्रेण पालयतीत्यर्थः ॥३७॥

**निर्मला**—सरितां पतिः = समुद्रः । तस्य = तारकस्य । उपायनयोग्यानि = उपहारयोग्यानि । रत्नानि = मुक्तादीनि । अम्भसाम् । अन्तः = मध्ये । आनि-ष्पत्तेः = परिपाकपर्यन्तम् । कथमपि=केनापि प्रकारेण । प्रतीक्षते=पालयति ॥३७।

**हिन्दी**— समुद्र तारकसुर के उपहारयोग्यरत्नों को जल के अन्दर पूर्ण परि-पक्व हो जाने तक प्रयत्नपूर्वक रक्षा करता है ।

**टिप्पणी**—सरितां पतिः—नदियों का स्वामी, समुद्र । समुद्र को नदियों का पति माना गया है । जिस प्रकार पत्नी अपने पति तो अपना सर्वस्व समर्पण कर देती है उसी प्रकार नदियाँ भी समुद्र को अपना सर्वस्व समर्पित कर देती हैं । अतएव समुद्र को नदियों का पति कहा गया है । उपायनयोग्यान—उपहार के लायक । उपायनानां योग्यानि उपायनयोग्यानि । जो जैसा है उसे वैसा ही उप-हार दिया जाता है । तारकासुर को भेंट किये जाने योग्य रत्न निश्चियरूप से बहु-मूल्य और उत्तम जाति के रहे होंगे । रत्नानि—रत्नों को । किसी भी वस्तु समु-दाय में सर्वोत्तम वस्तु की रत्न संज्ञा होती है । 'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्न-मभिधीयते ।' समुद्र में मोती आदि एक से एक रत्न उत्पन्न होते हैं । अतः इसे रत्नाकर भी कहा जाता है । आनिष्पत्तेः—तैयार होने तक, खूब पक जाने की अवधि तक । यहाँ 'आङ्' का प्रयोग 'मर्यादा' अर्थ में हुआ है । कथमपि प्रतीक्षते—किसी प्रकार देखभाल करता है अथवा बड़ी कठिनाई से प्रतीक्षा करता है । तारक के स्वभाव को सभी जानते हैं । समुद्र भी उससे डरा करता है । तारक को भेंट किये जाने योग्य रत्न जब तक उसके जल के नीचे भली-भाँति परिपक्व नहीं हो जाते तब तक सावधानीपूर्वक वह उनकी देखभाल और सुरक्षा करता है । अच्छी

तरह न पकने पर अथवा कोई विकृति या दोष आ जाने पर अवश्य ही दण्ड का भागी-बनना पड़ेगा—यह समुद्र भली-भाँति जानता था।

ज्वलन्मणिशिखाश्चैनं वासुकिप्रमुखा निशि।
स्थिरप्रदीपतामेत्य भुजङ्गाः पर्युपासते ॥ ३८ ॥

**अन्वय**—जलन्मणिशिखाः वासुकिप्रमुखाः भुजङ्गाः च निशि स्थिर प्रदीपताम् एत्य एनं पर्युपासते ॥ ३८ ॥

**सञ्जी०**—ज्वलदिति ॥ किं च इति चार्थः। ज्वलन्मणिशिखाः ज्वलन्त्यो मणीनां शिरोरत्नानां शिखा ज्वाला येषां ते वासुकिप्रमुखाः भुजङ्गाः सर्पाः। सिद्धाश्च ध्वन्यन्ते। 'भुजङ्गः सिद्धसर्पयोः' इत्यमरः। निशि स्थिरप्रदीपताम् अनिर्वाणदीपत्वम् एत्य एनं तारकं पर्युपासते परिवृत्य सेवन्ते ॥ ३८ ॥

**निर्मला**—ज्वलन्मणिशिखाः=भास्वतरत्नशिरांसि। वासुकिप्रमुखाः=वासुकि-प्रधानाः। भुजङ्गाः = सर्पाः। निशि = रात्रौ। स्थिरप्रदीपताम् = अविचलदीप-कत्वम्। एत्य = भूत्वा। एनम् = तारकम्। पर्युपासते = प्रकाशेन सेवन्ते ॥३८॥

**हिन्दी**—जगमगाती हुई मणियों से युक्त फणमण्डल वाले वासुकि आदि प्रमुख नाग रात में अविचल दीपक की भाँति इसकी सेवा करते हैं।

**टिप्पणी**—ज्वलन्मणिशिखाः—जगमगाती हुई मणियों की शिखा वाले। ज्वलन्त्यः मणीनां शिखाः येषां ते ज्वलन्मणिशिखाः; अथवा, ज्वलन्तः मणयः एव शिखाः येषां ते; अथवा, ज्वलन्तः मणयः शिखासु येषां ते। जब सर्प बहुत अधिक आयु वाले हो जाते हैं तो उनके फणों में एक मणि पैदा हो जाती है। वह अत्यधिक प्रकाश से युक्त होती है। इस पद का दो अर्थ यहाँ उचित हो सकता है—जिनके फणों में देदीप्यमान मणियाँ हों अथवा जगमगाती हुई मणियों की ज्वाला से युक्त हों जो, ऐसे। वासुकिप्रमुखाः—वासुकि आदि प्रमुख हों जिनके। वासुकिः प्रमुखं येषां ते वासुकिप्रमुखाः। वासुकि को सर्पों का राजा कहा गया है और 'शेष' नागों के राजा हैं। सर्प और नाग अलग-अलग हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—सर्पाणामस्मि वासुकिः। अनन्तश्चास्मि नागानाम्; (१०.२८-२९)। कभी-कभी नाग और सर्प एक ही मान लिये जाते हैं। वासुकि, सर्पराज वसुक का पुत्र है। वसुकस्य अपत्यमिति वासुकिः। इसके नाम की कई अन्य व्युत्पत्तियाँ भी हैं। एम० आर० काले के अनुसार, 'वसुना शिरःस्थरत्नेन कापति

इति वासुकिः' अथवा 'वसु रत्नं के मूर्ध्नि यस्य सः वासुकिः ॥' स्थिरप्रदीपताम् एत्य—अविचल दीपकता को ग्रहण कर अर्थात् स्थिर दीपक बनकर। स्थिरश्चासौ प्रदीपः स्थिरप्रदीपः; तस्य भावः स्थिरप्रदीपता, तां स्थिरप्रदीपताम्। तारकासुर तैलादि से दीपक नहीं जलता था अपितु दीपक के स्थान पर उसने जगमगाती हुयी शिरस्थ मणियों वाले भुजङ्गों को स्थापित (नियुक्त) कर दिया था। ऐसा करने में उसने वासुकि को भी नहीं छोड़ा। 'स्थिर प्रदीपता' में स्थिर का दो आशय है—पहला तो यह है कि सामन्य दीपक की ज्वाला वायुवशाद् चञ्चल रहती है किन्तु मणि की किरणपुञ्ज चञ्चल नहीं होती। दूसरा आशय है कि सामान्य दीपक तो बुझ जाता है और उसमें प्रकाश की एकरूपता भी नहीं रहती, किन्तु मणि में न बुझने वाला प्रकाश एकरूप रहता है।

**तत्कृतानुग्रहापेक्षी तं मुहुर्दूतहारितैः।**
**अनुकूलयतीन्द्रोऽपि कल्पद्रुमविभूषणैः॥ ३९॥**

**अन्वय**—इन्द्रः अपि तत्कृतानुग्रहापेक्षी मुहुः दूतहारितैः कल्पद्रुमविभूषणैः तम् अनुकूलयति॥ ३९॥

**सञ्जी०**—तत्कृतेति॥ इन्द्रः अपि तत्कृतानुग्रहापेक्षी तेन तारकेण कृतं तत्कृतमनुग्रहं प्रसादमपेक्षते इति तथोक्तः सन्। मुहुः दूतहारितैः कल्पद्रुमविभूषणैः कल्पद्रुमाणां विभूषणैः तत्प्रसूनैरित्यर्थः। तं तारकम् अनुकूलयति अनुकूलं करोति॥ ३९॥

**निर्मला**—इन्द्रः अपि = महेन्द्रः अपि। तत्कृतानुग्रहापेक्षी = तद्दत्तप्रसादाशंसी सन्। मुहुः = पुनः। दूतहारितैः = भृत्यप्रेषितैः। कल्पद्रुमविभूषणैः = कल्पवृक्षालङ्कारैः। तम् = तारकासुरम्। अनुकूलयति = स्वानुकूलं करोति॥ ३९॥

**हिन्दी**—इन्द्र भी उसकी कृपा की आकाङ्क्षा से बार-बार सेवकों द्वारा कल्पतरु के आभूषणों को भेजकर उसे अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा करता है।

**टिप्पणी**—तत्कृतानुग्रहापेक्षी—उसके अनुग्रह की अपेक्षा करने वाला। तेन कृतः अनुग्रहः तत्कृतानुग्रहः, तत्कृतानुग्रहम् अपेक्षते इति तत्कृतानुग्रहापेक्षी। इन्द्र, तारकासुर को किसी भी प्रकार अप्रसन्न नहीं करना चाहता था। वह बराबर यही चाहता था कि तारकासुर उस पर प्रसन्न रहे, उसकी कृपा सदैव बनी रहे। इसका आशय है कि जब देवताओं का राजा इस प्रकार उसकी कृपा चाहता है,

उसका मुखापेक्षी है और उसकी ऐसी दशा है तब उसके अधीनस्थ अन्य देवताओं का पूछना ही क्या ? उनकी हालत का स्पष्टतः अनुमान किया जा सकता है। दूतहारितैः—दूतों या सेवकों से भेजे गये। दूतैः हारितानि दूतहारितानि, तैः दूतहारितैः। कल्पद्रुमविभूषणैः—कल्पतरु के आभूषणों द्वारा। कल्पद्रुमाणां विभूषणानि कल्पद्रुमविभूषणानि, तैः कल्पद्रुमविभूषणैः। इन्द्र अपने सेवकों से बार-बार अर्थात् समय-समय पर कल्पवृक्ष से प्राप्त दिव्य आभूषणों को तारकासुर की सेवा में भेजा करते थे। क्षीरसागर के मन्थन के फलस्वरूप निकले चौदह रत्नों में से एक कल्पवृक्ष भी है। यह स्वर्ग में आरोपित किया गया है। इसकी विशेषता है कि यह मनोवाञ्छित और अयाचित फल ( वस्तुयें ) प्रदान करता है। इन्द्र इससे दिव्य आभूषण प्राप्त करके तारक को भेजता था। 'अनुकूलयति' का आशय है कि प्रसन्न रखना, अपने पक्ष में करना, अपनी तरफ मिलाना आदि।

**इत्थमाराध्यमानोऽपि क्लिश्नाति भुवनत्रयम्।**
**शाम्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः॥ ४०॥**

अन्वय—इत्थम् आराध्यमानः अपि भुवनत्रयं क्लिश्नाति, दुर्जनः प्रत्यपकारेण शाम्येत् उपकारेण न॥ ४०॥

सञ्जी०—इत्थमिति॥ इत्थम् उक्तप्रकारेण रविशशिपवनोदधिभुजङ्गसुरेन्द्रैः आराध्यमानः अपि भुवनत्रयं क्लिश्नाति पीडयति। तथा हि दुर्जनः प्रत्यपकारेण प्रतीकारेणैव शाम्येत् शान्तो भवेत्। उपकारेण तु न शाम्येत्। प्रत्युत प्रकुप्यतीति भावः॥ ४०॥

निर्मला—इत्थम् = उक्तप्रकारेण। आराध्यमानः=अर्च्यमानः। भुवनत्रयम् = निखिललोकम्। क्लिश्नाति = पीडयति। दुर्जनः = खलः। प्रत्यपकारेण। शाम्येत् = शान्तो भवेत्। उपकारेण = उपकृतिना। न = नैव॥ ४०॥

हिन्दी—इस प्रकार प्रसन्न किया जाता हुआ भी वह समस्त लोकों (त्रिभुवन को) पीडित कर रहा है। ( निश्चय ही ) दुष्ट व्यक्ति अपकार का बदला लेने से शान्त होता है न कि उपकार से।

टिप्पणी—इत्थम् आराध्यमानः अपि—इस प्रकार अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से प्रसन्न किया जाता हुआ भी। प्रत्येक देवता सावधानीपूर्वक उसकी सेवा में लगा हुआ है। इन्द्र भी उसे अनुकूल रखने का प्रयत्न करता है फिर भी वह अपने

स्वाभाविक गुण ( दोष ) का परित्याग नहीं करता। संस्कृत सूक्ति—'दुर्जनो नार्जवं याति सेवमानोऽपि नित्यशः' के समान ही लोक में एक कहावत है—'कुत्ते की पूँछ कितनी ही सहलायी जाय फिर भी वह टेढ़ी की टेढ़ी ही रहती है।' ऐसा ही स्वभाव दुर्जनों का होता है। भुवनत्रयम्—तीनों लोकों को। भुवनानां त्रयं भुवनत्रयम्। हर प्रकार से प्रसन्न किया जाता हुआ भी तारकासुर सब को पीड़ित करता था। दुर्जनः—दुष्ट मनुष्य या प्राणी। दुष्टः जनः दुर्जनः। प्रत्यपकारेण शाम्येत् उपकारेण न—प्रत्यपकार से ही मानता है ( शान्त होता है ), उपकार से नहीं। यह दुष्टों का स्वभाव है। 'उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये'; 'विषस्य विषमौषधम्', 'कण्टकः कण्टकेनैव निस्सरति' इत्यादि सूक्तियाँ इसी भाव को व्यक्त करती हैं। जो दुष्ट स्वभाव वाले होते हैं, वे अपने प्रति की गयी भलाई का तनिक भी ख्याल नहीं करते, बल्कि उससे उनका हौसला बढ़ जाता है और जब वे जान लेते हैं कि अमुक 'सेर पर सवा सेर' है, तब वे शान्त हो जाते हैं। उससे उनकी दुष्टता नहीं लगती। इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

तेनामरवधूहस्तैः सदयालूनपल्लवाः।
अभिज्ञाश्छेदपातानां क्रियन्ते नन्दनद्रुमाः ।। ४१ ।।

अन्वय—अमरवधूहस्तैः सदयालूनपल्लवाः नन्दनद्रुमाः तेन छेदपातानाम् अभिज्ञाः क्रियन्ते ।। ४१ ।।

सञ्जी०—तेनेति ।। तेन तारकेण अमरवधूहस्तैः सुकुमारैरिति भावः। तैरपि सदयालूनपल्लवाः सदयमालूना अवतंसार्थं छिन्ना पल्लवा येषां ते नन्दनद्रुमाः छेदपातानां छेदाश्च पाताश्च छेदपातास्तेषाम्। अभिजानन्तीति अभिज्ञाः। कृद्योगात्कर्मणि षष्ठी। क्रियन्ते ।। ४१ ।।

निर्मला—अमरवधूहस्तैः=देवाङ्गनाकोमलकरैः। सदयालूनपल्लवाः=सकरुणछिन्नकिसलयाः। नन्दनद्रुमाः=नन्दनवनवृक्षाः। तेन = तारकेण। छेदपातानाम् = विध्वंसकर्मणाम्। अभिज्ञाः = परिचिताः। क्रियन्ते = विधीयन्ते ।। ४१ ।।

हिन्दी—देवाङ्गनाओं के कोमल करों से करुणापूर्वक तोड़े जाने वाले किसलयों से युक्त नन्दनवन के वृक्ष उसके द्वारा नित्यशः काटकर गिराये जा रहे हैं।

टिप्पणी—अमरवधूहस्तैः—देवाङ्गनाओं के हाथों से। अमराणां वध्वः अमरवध्वः; तासां हस्ताः अमरवधूहस्ताः, तैः अमरवधूहस्तैः। स्त्री जाति कोमलाङ्गी

कही गयी है, फिर देवाङ्गनाओं की सुकुमारता का कहना ही क्या ? आशय है कि अतिसुकुमार हाथों से। सदयालूनपल्लवाः—करुणापूर्वक तोड़े गये पल्लवों वाले। दयया सहितं सदयं, सदयम् आलूनाः पल्लवाः, येषां ते सदयालूनपल्लवाः। अत्यन्त कोमल हाथों से देवाङ्गनायें दयापूर्वक जिनके पुष्प-पत्ते तोड़ती थीं। 'दयापूर्वक' का यह भाव है कि तोड़ते समय उन्हें यह सहानुभूति अवश्य होती रही कि इन वृक्षों को कष्ट पहुँच रहा है। अतएव वे आवश्यकता से अधिक तनिक भी नहीं तोड़ती थीं और तोड़ने में भी बड़ा ही आहिस्तापन और सावधानी बरतती थीं। नन्दनद्रुमाः—नन्दन वन के वृक्ष। नन्दयति इति नन्दनः, नन्दनस्य द्रुमाः नन्दनद्रुमाः। नन्दन वन देवताओं का क्रीडोद्यान है। उसमें अलौकिक पुष्पों से युक्त वृक्ष हैं। छेदपातानाम्—काटने-गिराने के। छेदाश्च पाताश्च छेदपाताः, तेषां छेदपातानाम्। तारकासुर ने ऐसे नन्दनवन के वृक्षों को काट-काट कर ढहा दिया था। इससे उसकी क्रूरता लक्षित होती है। अभिज्ञाः-जानकार, अनुभवी। अभिजानन्ति इति अभिज्ञाः। जिन वृक्षों की पत्तियाँ देवाङ्गनायें बड़ी ही आहिस्ता से करुणापूर्वक तोड़ती थीं, वे ही वृक्ष अब काटकर ढहाये जा रहे हैं। इस श्लोक के ही समान भाव को महाकवि ने रघुवंश १६.१९ में व्यक्त किया है—'आवर्ज्य शाखाः सदयं च यासां पुष्पाण्युपात्तानि विलासिनीभिः। वन्यैः पुलिन्दैरिव वानरैस्ताः क्लिश्यन्त उद्यानलताः मदीयाः ॥'

**वीज्यते स हि संसुप्तः श्वाससाधारणानिलैः।**
**चामरैः सुरबन्दीनां बाष्पशीकरवर्षिभिः ॥ ४२ ॥**

**अन्वय**—हि सः संसुप्तः श्वाससाधारणानिलैः बाष्पशीकरवर्षिभिः सुरबन्दीनां चामरै वीज्यते ॥ ४२ ॥

**सञ्जी०**—वीज्यत इति ॥ हि यस्मात्कारणात् स तारकः संसुप्तः सन्। श्वाससाधारणानिलैः श्वाससाधारणो निःश्वाससमानोऽनिलो येषां तैः। ततोऽप्याधिक्ये निद्राभङ्गभयादिति भावः। बाष्पशीकरवर्षिभिः। तासां स्त्रीणां रोदनस्यायमवसरः इति भावः। सुरबन्दीनां सुरप्रग्रहस्त्रीणां सम्बन्धिभिः। 'प्रग्रहोपग्रहौ बन्द्याम्' इत्यमरः। चामरैः वीज्यते ॥ ४२ ॥

**निर्मला**—सः = तारकः। संसुप्तः = निद्रामवाप्तः। श्वाससाधारणानिलैः = निःश्वाससमानानिलैः। बाष्पशीकरवर्षिभिः = अश्रुजलकणवर्षिभिः। सुरबन्दी-

नाम् = देवप्रग्रहस्त्रीणाम्। चामरैः = चमरपुच्छव्यजनैः। वीज्यते = सेव्यते।

हिन्दी—सुखपूर्वक सोये हुए तारकासुर को अश्रुजलकणों से सम्पृक्त श्वास के समान मन्द हवा देनेवाले, बन्दी देवाङ्गनाओं के, चामरों से हवा डुलायी जातीहै।

टिप्पणी - संसुप्तः—सोया हुआ। गहरी नींद में सोया हुआ। श्वाससाधारणानिलैः—साँस की तरह सामान्य हवाओं से। श्वासेन साधारणाः श्वाससाधारणा श्वाससाधरणाः अनिलाः येषां ते, तैः श्वाससाधारणानिलैः। 'चामरैः' का विशेषण। श्वास की हवा अत्यन्त मन्द गति वाली होती है। सोया हुआ तारकासुर अधिक वेग वाली हवा से जाग सकता है। नीद के इस प्रकार टूटने से उसके सुखपूर्वक शयन में बाधा पड़ी तो वह क्रुद्ध हो सकता है। वाष्पशीकरवर्षिभिः—अश्रुजलकणों की वर्षा करनेवाले। बाष्पानां शीकराः बाष्पशीकराः, बाष्पशीकरान् वर्षन्ति इति वाष्पशीकरवर्षिणः, तैः बाष्पशीकरवर्षिभिः। देवताओं की स्त्रियाँ भी बन्दिनी बनी हुई तारकासुर की सेवा में हैं। वे और उनके पतिगण तारक द्वारा उत्पीड़ित हैं। अतएव यह उनके रोदन का अवसर है। वे हरदम रोती रहती हैं अतएव उनकी आँखों से आँसू निकलकर उनके द्वारा डुलाये जाने वाले चामरों की हवा को सम्पृक्त करते हैं। शोक के आँसू भी उष्ण होते हैं। इस प्रकार यद्यपि अश्रुजल शीकर उष्ण हैं तथापि चामरों की हवा से मिलकर शैत्य उत्पन्न करते हैं। हवा के तीन गुण शीतलता, मन्दता और सुगन्धि हैं। श्वाससाधारणत्व से मन्दत्व और बाष्पशीकरवर्षित्व से शीतलता इष्ट है। सुखपूर्वक शयन के लिये यही दो गुण वायु में विशेष अपेक्षित है। निश्चय ही वन्दी देवाङ्गनायें अपने चामरों को डुलाकर पूर्वोक्त प्रकार से इन दोनों गुणों से युक्त हवा झलती हैं जब तारक सुखपूर्वक सोता है।

उत्पाट्य मेरुश्रृङ्गाणि क्षुण्णानि हरितां खुरैः।
आक्रीडपर्वतास्तेन कल्पिताः स्वेषु वेश्मसु॥ ४३॥

अन्वय—तेन हरितां खुरैः क्षुण्णानि मेरुश्रृङ्गाणि उत्पाट्य स्वेषु वेश्मसु आक्रीडपर्वताः कल्पिताः॥ ४३॥

सञ्जी०—उत्पाटयेति॥ तेन तारकेण हरितां सूर्याश्वानाम्। 'हरित्सूर्ये च सूर्याश्वे वर्णे च हरिते दिशि' इति विश्वः। खुरैः शफैः क्षुण्णानि चूर्णितानि। एतेन तेषामत्योन्नत्यं सूचितम्। मेरुश्रृङ्गाणि उत्पाट्य स्वेषु वेश्मसु। वेश्मस्विति बहु-

वचनेनास्य भुवनत्रयनिवासः सूचितः । आक्रीडपर्वताः आक्रीडन्ते एष्वित्याक्रीडा । ते च ते पर्वताः कल्पिताः कृताः ॥ ४३ ॥

**निर्मला**—तेन = तारकेण । हरिताम् सूर्याश्वानाम् । खुरैः = शफैः । क्षुण्णानि = चूर्णितानि । मेरुशृङ्गाणि = मेरुपर्वतशिखराणि । उत्पाट्य=उन्मूल्य । स्वेषु = स्वकीयेषु । वेश्मसु = अन्तःपुरेषु । आक्रीडपर्वताः = क्रीडानगाः । कल्पिताः = आरचिताः ॥ ४३ ॥

**हिन्दी**—उस तारकासुर द्वारा सूर्य के घोड़ों की टापों से चूर्णित मेरु गिरि के शिखर उखाड़ कर अपने अन्तःपुर में क्रीडापर्वत बनाये गये हैं ।

**टिप्पणी**—हरिताम्—सूर्य के घोड़ों के । सूर्य के रथ में सात घोड़े जुते हैं और सभी हरे रङ्ग के हैं ( कहीं-कहीं श्वेत रङ्ग भी मिलता है ) ऋग्वेद में सूर्य को 'हरिदश्व' कहा गया है । वास्तव में सूर्य के घोड़ों का यह रूपकमय वर्णन है । सूर्य की प्रकाश किरण विश्लेषण किये जाने पर सात विभिन्न रङ्गों में अलग हो जाती है । कृत्रिम रूप से Prism ( प्रिज्म ) द्वारा इसे देखा जा सकता है और प्राकृतिक रूप से 'इन्द्रधनुष' के रूप में देखा जा सकता है । इन विश्लेषित रङ्गों को अँग्रेजी में संक्षिप्त रूप में VIBGYOR लिखा जाता है । मेरुशृङ्गाणि—मेरु पर्वत की शिखरों को । मेरोः शृङ्गाणि मेरुशृङ्गाणि । मेरु पर्वत स्वर्णमय है और यह एक पौराणिक पर्वत है । यह बहुत ऊँचा है और कहा जाता है कि सूर्य नित्य इसकी परिक्रमा करता है । अतएव सूर्य के घोड़ों की टापों द्वारा इसकी शिखरों के चूर्णित होने की बात स्वाभाविक है । स्वेषु वेश्मसु—अपने भवनों में । मल्लिनाथ ने लिखा है कि बहुवचन के प्रयोग से तारकासुर का भुवनत्रय में निवास होना सूचित होता है । आक्रीडपर्वताः—क्रीडाशैल । आक्रीडन्ते एषु इति आक्रीडाः । आक्रीडाः च ते पर्वताः आक्रीडपर्वताः । विलासी जनों के हर्म्यों में क्रीडा उपवन, क्रीडावापी की ही भाँति कृत्रिम क्रीडापर्वत भी होते हैं । तारकासुर ने हेमगिरि मेरु की शिखरों को ही उखाड़ कर अपने भवनों में क्रीडापर्वत बना लिया था । यह उसके अतिसाहसत्व का सूचक है, विलासप्रियता का भी ।

**मन्दाकिन्याः पयः शेषं दिग्वारणमदाविलम् ।**
**हेमाम्भोरुहसस्यानां तद्वाप्यो धाम साम्प्रतम् ॥ ४४ ॥**

अन्वय—साम्प्रतं मन्दाकिन्याः दिग्वारणमदाविलं पयः शेषं हेमाम्भोरुहसस्यानां तद्वाप्यः धाम ॥ ४४ ॥

सञ्जी०—मन्दाकिन्या इति ॥ साम्प्रतं सम्प्रति मन्दाकिन्याः भागीरथ्याः दिग्वारणमदाविलं दिग्वारणानां दिग्गजानां मदैराविलं कलुषं पयः जलमेव शिष्यत इति शेषं शिष्टम् । कर्मणि घञ् प्रत्ययः । 'ऋष्वन्यत्रोपयुज्यते' इति नपुंसकत्वम् । तर्हि कनककमलानि क्व गतानि इत्याह—हेमेति । हेमाम्भोरुहसस्यानां हेमाम्भोरुहाण्येव सस्यानि तेषां तु तस्य वाप्यः तद्वाप्यः एव धाम स्थानम् । सर्वाण्यप्युत्पाट्य स्व-दीर्घिकास्वेव प्रतिरोपितवानित्यर्थः ॥ ४४ ॥

निर्मला—साम्प्रतम् = इदानीम् । मन्दाकिन्याः = स्वर्गगङ्गायाः । दिग्वारण-मदाविलम् = दिग्गजमदमलिनम् । पयः = जलम् । शेषम् = अवशिष्टम् । हेमाम्भो-रुहसस्यानाम् = स्वर्णकमलधान्यानाम् । तद्वाप्यः = तारकस्य सरांसि दीर्घिकाः वा । धाम = स्थानम् ॥ ४४ ॥

हिन्दी—इस समय तो दिग्गजों के मदजल से मलिन जल ही स्वर्गगङ्गा में अवशिष्ट है । क्योंकि स्वर्णकमलों के उगने का स्थान तो तारक की दीर्घिकायें ही हैं ।

टिप्पणी—दिग्वारणमदाविलम्—दिग्गजों के मदजल से मलिन 'पयः का विशेषण । दिशां वारणाः दिग्वारणाः, दिग्वारणानां मदैः आविलम्, दिग्वारणमदा-विलम् । 'मन्दाकिनी' का अर्थ आकाशगङ्गा या स्वर्गङ्गा । आकाशगंगा में दिग्गजों की क्रीडा का बहुशः उल्लेख मिलता है । महाकवि ने भी लिखा है—'तदत्याकाश-गङ्गायाः स्रोतस्युद्दामदिग्गजे'—रघु० १.७८ । आठ दिशाओं में आठ हाथी रहते हैं जिनका नाम इस प्रकार है—'ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः । पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः ॥' अकाशगङ्गा का पानी इनके मदजल से गन्दला ( मलिन ) होता रहता है । हेमाम्भोरुहसस्यानाम्—स्वर्णकमल रूपी सस्यों ( फसलों ) का । हेम्नः अम्भोरुहाणि एव सस्यानि हेमाम्भोरुहसस्यानि, तेषां हेमा-म्भोरुहसस्यानाम् । आकाशगङ्गा में स्वर्णकमल उगते-खिलते हैं । किन्तु इस समय वह इन स्वर्णकमलों से सूनी है । केवल उसमें दिग्गजों के मदजल से मलिन जल ही अवशिष्ट है । वास्तव में स्वर्णकमलों को तारकासुर उखाड़ ले गया है और वे अब उसकी दीर्घिकाओं का शोभा बढा रहे हैं । तद्वाप्यः—उसकी दीर्घिकायें ।

तस्य वाप्यः-तद्वाप्यः। तारकासुर की दीर्घिकायें ही अब उन कमलों के खिलने का स्थान हैं।

भुवनालोकनप्रीतिः स्वर्गिभिर्नानुभूयते।
खिलीभूते विमानानां तदापातभयात्पथि ॥ ४५ ॥

अन्वय—तदापातभयात् विमानानां पथि खिलीभूते स्वर्गिभिः भुवनालोकनप्रीतिः नानुभूयते ॥ ४५ ॥

सञ्जी०—भुवनेति ॥ तदापातभयात् तस्य तारकस्यापातात्सम्पातेर्भयात् विमानानां पथि खिलीभूते अप्रहतीभूते सति। 'द्वे खिलाप्रहते समे' इत्यमरः। स्वर्गिभिः देवैः भुवनालोकनप्रीतिः भुवनानामालोकने प्रीतिः नानुभूयते ॥ ४५ ॥

निर्मला—तदापातभयात् = तारकाक्रमणभयात्। विमानाम् = आकाशयाना-नाम्। पथि = मार्गे। खिलीभूते + अप्रहतीभूते। स्वर्गिभिः = देवैः। भुवनालोकन-प्रीतिः = लोकदर्शन प्रेम। न अनुभूते = न प्राप्यते ॥ ४५ ॥

हिन्दी—उसके आक्रमण के भय से विमानों का मार्ग शून्य हो जाने से अब देवों को ( विमानसञ्चरण द्वारा ) लोकों को देखने का आनन्द नहीं मिलता।

टिप्पणी - तदापातभयात्—उसके आक्रमण के भय से। तस्य आपातः तदा-पातः तदापातात् भयात् तदापातभयात्। तारकासुर न जाने कब आक्रमण कर बैठे—इस आशङ्का से देवगण सदैव भयभीत रहते थे। विमानानाम्=विमानों के, आकाशयानों के। देवगणों के अपने-अपने विशिष्ट विमान हैं, जिन पर बैठकर वे देवाङ्गनाओं के साथ आकाश में विहार करते हैं। पथि खिलीभूते—मार्ग के शून्य हो जाने पर। खिल + च्वि + भू + क्त, सप्तमी एकवचन—खिलीभूते। उपर्युक्त डर के कारण देवताओं ने विमानों पर चढ़कर गगन-विहार करना छोड़ दिया। अतः आकाश के विमान पथ सूने हो गये। चारित्रवर्धन ने अपनी टिप्पणी में लिखा है—'तद्भयात्सङ्कुचिताः देवाः स्वगृहादपि बहिर्भवितुं न शक्नुवन्ति।' स्वर्गिभिः—देवताओं के द्वारा। स्वर्ग में निवास के कारण देवगण 'स्वर्गी' कहे जाते हैं। भुवनालोकनप्रीतिः—लोकों को देखने का प्रेम ( आनन्द )। भुवना-नाम् आलोकनं भुवनालोकनं, भुवनालोकने प्रीतिः भुवनालोकनप्रीतिः। देवता नित्य विहार करने के बड़े प्रेमी थे। भयाक्रान्त होने के कारण उनका घर से

अपना निकलना ही मुश्किल हो गया तो फिर लोकों के दृश्य को देखकर आनन्द प्राप्त करने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

यज्वभिः सम्भृतं हव्यं विततेष्वध्वरेषु सः ।
जातवेदोमुखान्मायी मिषतामाच्छिनत्ति नः ॥ ४६ ॥

अन्वय – यज्वभिः विततेषु अध्वरेषु सम्भृतं हव्यं मायी सः नः मिषतां जातवेदोमुखात् आच्छिनत्ति ॥ ४६ ॥

सञ्जी० – यज्वभिरिति ॥ यज्वभिः विधिवदिष्टवद्भिः । 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमरः । 'सुयजोर्ङ्वनिप्' इति ङ्वनिप्प्रत्ययः । विततेषु अध्वरेषु यज्ञेषु सम्भृतं दत्तं हव्यं हविः मायी मायावी । व्रीह्यादित्वादिनिप्रत्ययः । स तारकः नः अस्माकं मिषतां पश्यतां । पश्यत्सु सत्स्वित्यर्थः । 'षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी । जातवेदाः वह्निरेव मुखं तस्मात् जातवेदोमुखात् आच्छिनत्ति । आक्षिप्य गृह्णातीत्यर्थः ॥ ४६ ॥

निर्मला—यज्वभिः = यजनकर्तृभिः । विततेषु = विस्तृतेषु । अध्वरेषु = यज्ञेषु । सम्भृतम् = एकत्रम् । हव्यम् = आहुतिद्रव्यम् । मायी = मायावी । सः = तारकः । नः = अस्माकम् । मिषताम्=पश्यताम् । जातवेदोमुखात् = अग्निमुखात् । आच्छिनत्ति = बलादाकृष्य गृह्णाति ॥ ४६ ॥

हिन्दी—यजमानों द्वारा फैलाये गये यज्ञों में इकट्ठी की गयी हवियों को वह मायावी हम लोगों की आँखों के सामने ही अग्नि रूपी मुख से बलपूर्वक छीन लेता है ।

टिप्पणी—यज्वभिः—यज्ञकर्ताओं द्वारा । विधिपूर्वक यज्ञ करने वाले को 'यज्वा' कहते हैं । अध्वरेषु—यज्ञों में । 'अध्वर' की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की जाती है । (—एम० आर० काले) । १. 'नास्ति ध्वरा हिंसा यस्मिन् सः अध्वरः ।' २. सायणाचार्य के अनुसार 'न ध्वरतीति अध्वरः ।' क्योंकि 'न ह्यग्निना सर्वतः पालितं यज्ञं राक्षसाः हिंसितुं प्रभवन्ति ।' ३. 'अध्वानं राति ददाति इति अध्वरः ।' (जो फल देने में टेढ़ा नहीं है अर्थात् सीधे-सीधे फल प्रदान करता है)। मायी—मायावी । माया अस्य विद्यते इति मायी । असुरों की माया दुष्ट क्रियाओं की सिद्धियाँ हैं । जैसे अदृश्य हो जाना, इच्छानुसार रूप-वेषादि परिवर्तन करना आदि माया कही जाती है । तारकासुर मायी है

तभी तो देवगण उससे पार नहीं पा रहे हैं और वह इनके देखते-देखते, इनकी इष्ट वस्तुयें, यज्ञों की हव्य सामग्रियाँ उठा ले जाता है। जातवेदोमुखात्— अग्नि रूपी मुख से। जातवेदा एव मुखं, जातवेदोमुखं, तस्मात् जातवेदोमुखात्। 'जातवेदस्' अग्नि को कहते हैं क्योंकि वह, 'जातं सद्यो जातं विन्दति' (पैदा हुये को प्राप्त कर लेता है), अथवा, 'जातं वेत्ति वेदयते वा' (पैदा होकर वह सब को जाना जाता है या उसे सब जान जाते हैं)। अग्नि देवताओं का मुख कहा जाता है—'अग्निमुखाः वै देवाः।' अग्निर्वै देवानां मुखम्' इति। देवताओं की अभीष्ट वस्तु अग्नि में डाल देने से उन्हें मिल जाती है।

**उच्चैरुच्चैःश्रवास्तेन हयरत्नमहारि च।**
**देहबद्धमिवेन्द्रस्य चिरकालार्जितं यशः॥ ४७॥**

**अन्वय** तेन च उच्चैः उच्चैःश्रवाः हयरत्नं देहबद्धं चिरकालार्जितम् इन्द्रस्य यशः इव अहारि॥ ४७॥

**सञ्जी०**—उच्चैरिति॥ किं च इति चार्थः तेन तारकेण उच्चैः उन्नतः उच्चैः श्रवा नाम हयो रत्नमिव हयरत्नम् अश्वश्रेष्ठः। 'रत्नं श्रेष्ठे मणावपि' इति विश्वः। अस्य शुभ्रत्वादुत्प्रेक्षते--देहबद्धं बद्धदेहम्। मूर्तिमदित्यर्थः। आहिताग्न्यादित्वान्निष्ठायाः परनिपातः। चिरकालार्जितम् इन्द्रस्य यशः इव अहारि अपहृतम्॥ ४७॥

**निर्मला**—तेन च = तारकेण च। उच्चैः = अभ्युन्नतः। उच्चैश्रवाः = एतन्नामकः। हयरत्नम् = अश्वश्रेष्ठः। देहबद्धम् = मूर्तिमानम्। चिरकालार्जितम् =प्रभूतसमयसञ्चितम्। इन्द्रस्य = महेन्द्रस्य। यशः = कितिः। अहारि = अपहृतः॥ ४७॥

**हिन्दी**—उसके द्वारा, बहुत दिनों से सञ्चित मानों शरीरधारी यश की भाँति इन्द्र का उन्नत उच्चैःश्रवा नामक अश्वश्रेष्ठ हर लिया गया।

**टिप्पणी**—उच्चैः—उन्नत। यह अव्यय है। ऊँचा होना अच्छे घोड़ों का गुण है—'उन्नत्त्वमश्वानां प्रधानगुणः।' उच्चैःश्रवा—इन्द्र के घोड़े का नाम। समुद्रमन्थन के फलस्वरूप निकलने वाले रत्नों में से एक रत्न यह भी है। उच्चैः श्रवः यस्य स उच्चैःश्रवा। इसका शाब्दिक अर्थ है—जिसके कान लम्बे हों अथवा जो जोर से हिनहिनाता हो। हयरत्न—अश्वश्रेष्ठ को। हयो रत्नम् इव

हयरत्नम् अथवा हयेषु हयानां वा रत्नम् हयरत्नम् । देहबद्धम्—शरीरधारी । बद्धो देहः येन तत् देहबद्धम् । अथवा, देहेन बद्धम्, देहबद्धम्, तत् । इन्द्र का यश ही मानों शरीर धारण करके अश्व के रूप में विद्यमान हो । उच्चैश्रवा श्वेत रंग का घोड़ा है और यश का रंग भी कवि-परम्परा में शुभ्र ही माना गया है । अतः उसने इन्द्र का घोड़ा नहीं अपहृत किया अपितु इन्द्र के मूर्तिमान् यश का ही अपहरण कर लिया । चिरकालार्जितम्–बहुत दिनों से कमाया गया ( अर्जित= सञ्चित ) । 'यश' का विशेषण । चिरं कालाः, चिरकालैः अर्जितं चिरकालार्जितम् । इन्द्र ने इतने दिनों से जिस यश का अर्जन ( सञ्चय ) किया था, मानों तारकासुर ने उनका घोड़ा नहीं छीना, उस यश का ही अपहरण कर लिया । इन्द्र का घोड़ा अपहरण कर लिया जाय, यह इन्द्र के लिये कितने बड़े कलङ्क की बात है । इस अपयश ने इन्द्र के सारे यश को मिटा दिया । 'यश' के बारे में एम० आर० काले ने लिखा है–'दानपुण्यकृता कीर्तिः पराक्रमकृतं यशः ॥' इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

तर्हि सामाद्युपायास्तत्र कथं न प्रयुक्ता इत्यत्राह--

**तस्मिन्नुपायाः सर्वे नः क्रूरे प्रतिहतक्रियाः ।**
**वीर्यवन्त्यौषधानीव विकारे सान्निपातके ॥ ४८ ॥**

**अन्वय**--क्रूरे तस्मिन् न सर्वे उपायाः सान्निपातके विकारे वीर्यवन्ति औषधानि इव प्रतिहतः क्रियाः ॥ ४८ ॥

**सञ्जी०**—तस्मिन्निति । क्रूरे घातुके । 'नृशंसो घातुकः क्रूरः' इत्यमरः । तस्मिन् असुरे नः अस्माकं सर्वे उपायाः सन्निपातदोषत्रयस्य प्रकोपने सन्निपातके विकारे ज्वरादौ । 'सन्निपाताच्च' इति वक्तव्याट्ठक्, वीर्यवन्ति सारवन्ति औषधानि इव प्रतिहतक्रियाः विफलप्रयोगा भवन्ति ॥ ४८ ॥

**निर्मला**—क्रूरे = निर्दये । तस्मिन् = तारके । नः = अस्माकम् । सर्वे = समस्ताः । उपायाः = उपक्रमाः । सन्निपातके = त्रिदोषजन्ये ज्वरादौ । विकारे= रोगे । वीर्यवन्ति = प्रभावयुक्तानि । औषधानि = भेषजानि । प्रतिहतक्रियाः = निष्फलाः ॥ ४८ ॥

**हिन्दी**—हमारे सभी उपाय उस क्रूर तारकासुर पर वैसे ही निष्फल हो गये जैसे कि सन्निपातज्वरव्याधि में असरदार दवायें निष्फल हो जाती हैं ।

**टिप्पणी**—उपायाः—उपाय, प्रयत्न। किसी भी कार्य को करने के लिये जो 'युक्ति' लगायी जाती है, उसे उपाय कहते हैं। ये उपाय, कुछ तो परम्परागत रूप से प्राप्त होते हैं और कुछ तत्कालिक रूप से बौद्धिक बल से सद्योजात होते हैं। परम्परागत रूप से प्राप्त चार उपाय उल्लेख्य हैं—'भेदो दण्डः सामदानमित्युपायचतुष्टयम्।' इन्द्र और उनके साथी हर उपायों का प्रयोग करके, हर सम्भव तरीकों का इस्तेमाल करके हार गये, उनकी एक भी दाल नहीं गल सकी। वे निराश और निरुपाय होकर ब्रह्मा की शरण में पहुँचे हैं। सन्निपातके विकारे—सन्निपात-ज्वर-व्याधि में। सन्निपाते भवः सान्निपातकः। ज्वर जब बिगड़ जाता है तो उसे सन्निपात ज्वर कहते हैं। ऐसी अवस्था में प्राणी के शरीर में तीव्र सन्ताप तो रहता ही है, वह मानसिक सन्तुलन भी खो बैठता है और प्रलाप, बक-झक करने लगता है। ऐसा देखने में आता है कि तीव्र ज्वर की दशा में यदि ज्वराक्रान्त रोगी मीठी वस्तु ( गुड़, चीनी ) का उपभोग कर ले, तो सन्निपात हो जाता है और तब ऐसे बिगड़े हुये ज्वर में अच्छी से अच्छी औषधियाँ भी काम नहीं करतीं। ज्वर असाध्य हो जाता है और रोगी की मृत्यु भी हो जाया करती है। इस स्थल की टीका करते हुये नारायण ने लिखा है—'वातपित्तकफानां च सन्निपातो यदा भवेत्। तदा जातो ज्वरस्तीव्रो ह्यसाध्यः सर्वभेषजैः॥' प्रतिहतक्रियाः—निष्फल प्रयोग वाले। प्रतिहताः क्रियाः येषां ते प्रतिहतक्रियाः। सान्निपातिक विकार में जिस प्रकार असरदार दवाओं से भी कोई लाभ नहीं होता, उसी प्रकार इन्द्रादि देवताओं और उनके गुरु बृहस्पति के उपाय भी निष्फल सिद्ध हो गये। वे तारकासुर का कुछ भी नहीं बिगाड़ सके। इस श्लोक में उपमा अलङ्कार है।

**जयाशा यत्र चास्माकं प्रतिघातोत्थितार्चिषा।**
**हरिचक्रेण तेनास्य कण्ठे निष्कमिवार्पितम्॥ ४९॥**

**अन्वय**—यत्र अस्माकं जयाशा प्रतिघातोत्थितार्चिषा तेन हरिचक्रेण अस्य कण्ठे निष्कम् अर्पितम् इव॥ ४९॥

**सञ्जी०**—जयाशेति॥ किं च इति चार्थः। नूनमनेन हरिचक्रेण वयं जेष्याम इति यत्र हरिचक्रे अस्माकं जयाशा विजयाशंसा आसीदिति शेषः। प्रतिघातोत्थितार्चिषा प्रतिघातेन प्रतिहत्योत्थिताचिषोद्गततेजसा तेन हरिचक्रेण

विष्णोः सुदर्शनेन अस्य तारकस्य कण्ठे निष्कम् उरोभूषणम् अर्पितमिव इत्युत्प्रेक्षा। स्वयमेव निष्कमिव स्थितमित्यर्थः। तारकशिरच्छेदाय हरिणा चक्रं त्यक्तं तदपि नष्टशक्ति जातमिति भावः। 'साष्टे शते सुवर्णानां हेम्न्युरोभूषणे पले। दीनारोऽपि च निष्कोऽस्त्री' इत्यमरः॥ ४९॥

**निर्मला**—यत्र = यस्मिन्। अस्माकम् = देवानाम्। जयाशा = विजयाशंसा। प्रतिघातोत्थितार्चिषा = प्रहारोद्गततेजसा। तेन हरिचक्रेण = सुदर्शनचक्रेण। अस्य = तारकस्य। कण्ठे = ग्रीवायाम्। निष्कम् = स्वर्णाभरणम्। अर्पितमिव = दत्तमिव, लग्नमिव॥ ४९॥

**हिन्दी**—जिस पर हम लोगों की आशा बँधी थी, प्रहार से उठी हुयी चिनगारियों वाला वह सुदर्शन चक्र तो मानों उसके गले में पहनाया गया स्वर्णहार जैसा बन गया।

**टिप्पणी**—जयाशा-विजय की आशा। जयस्य आशा जयाशा। देवताओं को भगवान् विष्णु के सुदर्शन चक्र पर पूर्ण भरोसा था। वे समझते थे कि भले ही हमारे पराक्रम और आयुध तारकासुर के लिये निष्प्रभावी हो जायँ किन्तु विष्णु का सुदर्शन चक्र तो अवश्य ही उसका विनाश कर डालेगा। प्रतिघातोत्थितार्चिषा—टकराहट से उठी चिनगारियों अथवा ज्वालाओंवाला। 'हरिचक्रेण' का विशेषण। प्रतिघातेन उत्थिता प्रतिघातोत्थिता, प्रतिघातोत्थिता अर्चिः यस्य सः प्रतिघातोत्थितार्चिः, तेन प्रतिघातोत्थितार्चिषा। सुदर्शन चक्र तारकासुर के वध के लिये प्रेरित होकर चला और जाकर उसके गले पर प्रहार किया, किन्तु उसका कुछ भी बाल बाँका न कर सका। सुदर्शन चक्र और तारक के गले की टकराहट से अग्नि की चिनगारियाँ निकलीं। इससे तारक के शरीर का वज्रवत् कठोर होना व्यञ्जित होता है। हरिचक्रेण—विष्णु के सुदर्शन चक्र द्वारा। हरेः चक्रं, हरिचक्रम्, तेन हरिचक्रेण। यह सुदर्शन चक्र विष्णु आदि प्रमुख देवताओं के तेजोंश-समूह को लेकर महादेव शिव द्वारा बनाया गया था और पुनः विष्णु के प्रमुख आयुध के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। हरिचक्रेण' से साथ लगा हुआ विशेषण 'तेन' साभिप्राय है और उसके द्वारा पूर्वकाल में किये गये अनेक महादैत्यों के वध का स्मरण दिलाने के साथ ही देवों की वर्तमान जयाशा को भी इंगित करता है। निष्कम् अर्पितम् इव-( कण्ठ में ) हार

मानों पहनाया हुआ हो। 'निष्क' स्वर्ण की बनी हुई मुहरों को गूँथकर बनाये गये हार को कहते हैं। तारक गले पर पहुँच कर चिनगारी छोड़ता हुआ सुदर्शन चक्र स्वर्णहार जैसा प्रतीत होने लगा। अर्थात् अपने उद्देश्य में निष्फल होकर उसकी शोभा बन गया। उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

**तदीयास्तोयदेष्वद्य पुष्करावर्तकादिषु।**
**अभ्यस्यन्ति तटाघातं निर्जितैरावता गजाः ॥ ५० ॥**

**अन्वयः**—अद्य निर्जितैरावताः तदीयाः गजाः पुष्करावर्तकादिषु तोयदेषु तटाघातम् अभ्यसन्ति ॥ ५० ॥

**सञ्जी०**—तदीया इति ॥ अद्य सम्प्रति निर्जितैरावताः निर्जिता ऐरावतो यैस्ते तथोक्ताः। तस्य तारकस्येमे तदीयाः गजाः पुष्कराश्चावर्तकाश्च नाम आदयो येषां तेषु पुष्करावर्तकादिषु तोयदेषु मेघेषु तटाघातं वप्रक्रीडाम् अभ्यसन्ति ॥ ५० ॥

**निर्मला**—अद्य = इदानीम्। निर्जितैरावताः = विजितेन्द्रगजाः। तदीयाः= तारकासुरस्येमे। गजाः = करिणः। पुस्करावर्तकादिषु = एतन्नामकेषु। तोयदेषु= मेघेषु। तटाघातम् = वप्रक्रीडाम्। अभ्यसन्ति = कुर्वन्ति ॥ ५० ॥

**हिन्दी**--अब, ऐरावत को पराजित करने वाले उसके हाथी पुष्करावर्तक आदि बादलों पर वप्रक्रीडा करते हैं।

**टिप्पणी**—निर्जितैरावता—जीते गये ऐरावत वाले अर्थात् जिन्होंने ऐरावत को पराजित कर दिया है। निःशेषेण जितः र्निजितः, निर्जितः ऐरावतः यैः ते निर्जितैरावताः। 'ऐरावत' इन्द्र का वाहन हाथी तथा और समुद्र-मन्थन के फलस्वरूप निकले हुये चौदह रत्नों में एक यह भी था। समुद्र से उत्पन्न होने के कारण ही इसका नाम 'ऐरावत' है—'इरा आपः तद्वान् समुद्रः, तत्र भवः ऐरावतः ( इरावन् = अण् )। इसे ऐरावण भी कहते हैं। इसकी पत्नी का नाम ऐरावती या अनभ्रु है। ऐरावत का वर्ण शुभ्र है तथा इसके चार दाँत हैं—'ततः ऐरावतो नाम वारणेन्द्रो विनिर्गतः। दन्तैश्चतुर्भिः श्वेताद्रेर्हरन् भगवतो महीन् ॥'—भागवत पु० ८.८.४। स्मरणीय है कि इस समय भी स्याम देश ( थाइलैण्ड ) में इरावदी नदी के तटवर्ती वनों में सफेद हाथी पाये जाते हैं। सम्भव है ऐरावत इन्हीं की प्रजाति का पूर्वज रहा हो। तारकासुर के गजों

ने इस ऐरावत को (जो कि पूर्व दिशा का दिग्गज भी है) मार कर भगा दिया है। पुष्करावर्तकादिषु—पुष्करावर्तक आदि (मेघों) पर। पुष्करश्च आवर्तकाश्च ६ .यः येषां तेषु पुष्करावर्तकादिषु। अत्यधिक वृष्टि करने वाले शक्तिशाली मेघों के ये दोनों कुल हैं। कहा जाता है कि प्रलय काल उपस्थित होने पर इन्हीं दोनों कुलों के बादल अपनी भीषण वृष्टि द्वारा पृथ्वी को जलप्लावित कर देते हैं। काव्यों में इनका अनेकत्र उल्लेख मिलता है। वेणीसंहार नाटक में—'छन्नं मेघैर्न गगनतलं पुष्करावर्तकाद्यैः' और पूर्व मेघ में—'जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानाम्' इत्यादि। तटाघातम्—व: क्रीडा। बलदर्पोन्मत्त होकर प्रचण्ड जन्तु ऊँचे टीले, स्थाणु आदि पर अपने मस्तक, दांत, सींग या सूँड से प्रहार करते हैं, टक्कर मारते हैं। यही 'तटाघात' कहा जाता है। तटेषु आघातः तटाघातः, तं तटाघातम्। कहते हैं कि मालिक के शेर होने पर उसकी कुतिया भी सवासेर हो जाती है। और फिर तारकासुर के हाथियों का तो पूछना ही क्या। उन्होंने दिग्गज, इन्द्र के निजी वाहन ऐरावत को मार भगा दिया है और अब अपने दर्प की खुजलाहट पुष्करावर्तक मेघों पर टक्कर मार कर मिटाते हैं। नियमितरूप से जैसे अभ्यास करते हों।

**तदिच्छामो विभो स्रष्टुं सेनान्यं तस्य शान्तये।**
**कर्मबन्धच्छिदं धर्मं भवस्येव मुमुक्षवः॥ ५१॥**

**अन्वयः**—तत् (हे) विभो! मुमुक्षवः भवस्य शान्तये कर्मबन्धच्छिदं धर्मम् इव तस्य शान्तये सेनान्यं स्रष्टुम् इच्छामः॥ ५१॥

**सञ्जी०**—तदिति॥ तत् तस्मात्कारणात्। हे विभो स्वामिन्। मोक्तुं भवं त्यक्तुमिच्छतः मुमुक्षवः विरक्ताः भवस्य संसारस्य शान्तये निवृत्तये कर्मबन्धच्छिदं कर्मैव बन्धस्तं छिनत्तीति कर्मबन्धच्छित्तं धर्मम् इव। आत्मज्ञानहेतुभूतमिति शेषः। 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' इति ज्ञानादेव मुक्तिः। तस्य तारकस्य शान्तये नाशाय। सेनां नयतीति सेनानीश्चमूपतिः। 'सत्सूद्विष—' इत्यादिना क्विप्। तं सेनान्यं कञ्चित् स्रष्टुम् इच्छामः। वयमिति शेषः॥ ५१॥

**निर्मला**—तत् = तस्मात्कारणात्। विभो = स्वामिन्। मुमुक्षवः=विरक्ताः। भवस्य = जगतः। शान्तये = विनिवृत्तये। कर्मबन्धच्छिदम् = कर्मपाशविनाशकम्। धर्मम् इव = सदाचरणम् इव। तस्य = तारकस्य। शान्तये = विनाशाय।

सेनान्यम् = सेनापतिम् । स्रष्टुम् = निर्मातुम् । इच्छामः = अभिलाषामः ॥ ५१ ॥

हिन्दी—इस लिये, हे स्वामी! जैसे, मोक्ष चाहने वाले आवागमन रूप संसार से निवृत्ति के लिये कर्मबन्धन के विध्वंसक धर्माचरण को चाहते हैं, वैसे ही (हम) उस तारकासुर के विनाश के लिये एक सेनापति की उत्पत्ति चाहते हैं।

टिप्पणी—मुमुक्षवः—मुक्ति या मोक्ष चाहने वाले। मोक्षम् इच्छन्ति ते मुमुक्षवः। भवस्य शान्तये—(आवागमनरूप) संसार की निवृत्ति के लिये। यह संसार दुःखों से भरा हुआ है। जन्म-मरण का चक्कर अपने आप में बहुत बड़ा दुःख है। तत्त्वदृष्टि वाला प्राणी जब इस तथ्य को समझ जाता है, तब वह इस दुःख से निवृत्ति की आकाङ्क्षा करके प्रयत्न करता है। जितने भी आस्तिक दर्शन हैं वे भिन्न-भिन्न उपायों से मोक्ष की प्राप्ति का प्रतिपादन करते हैं। सभी स्वीकार करते हैं—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।' तब मुमुक्षु इस किसी उपाय द्वारा ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाता है। कर्मबन्धच्छिदम्—कर्मबन्धन को छिन्न करने वाला, तोड़नेवाला। कर्म एव बन्धः, कर्मजनितः बन्धः वा कर्मबन्धः, कर्मबन्धं छिनत्तीति कर्मबन्धच्छित्, तं कर्मबन्धच्छिदम्। कर्म तीन प्रकार के होते हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। मनुष्य इन कर्मों को करता हुआ जीवन यापन करता है और कर्मफलों के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म ग्रहण करता हुआ संसार में पड़ा रहता है। जो निषिद्ध कर्म वाले हैं वे तो नरकभागी होते हैं। इस प्रकार बिना भोग किये हुये कर्मफल समाप्त नहीं होता—'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।' किन्तु यह सिद्धान्त निश्चय ही अज्ञानियों के लिये है। किन्तु जो ज्ञानयुक्त हो जाते हैं उनके विषय में मुण्डकोपनिषद् कहती है—'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।' भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में कहा है—

"कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥"—(२.५१)

और भी, 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।' (वही, ४.३७)

धर्मम्—धर्म को। ध्रियते लोकोऽनेन, धरति लोकं वा इति धर्मः (धृ + मन्), तं धर्मम्। 'धर्म' की न जाने कितनी परिभाषायें दी गयी हैं। किन्तु धर्म

वही है जिससे सबका हित हो, कल्याण हो। अतएव प्रत्येक व्यक्ति का सदाचरण ही धर्म है—१. 'आचारः परमो धर्मः।' २. 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस् सिद्धिः स एव धर्मः।' ३. 'धृतिःक्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥' ४. श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥' ५. धर्मो न वै यत्र च नास्ति सत्यम्। ६. 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई।' इत्यादि। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म वह व्यापक तत्त्व है जिसमें सबका शिव निहित होता है। प्राणिमात्र के पुरुषार्थचतुष्टय का भी एक घटक धर्म यही है। इस प्रकार साध्य रूप मोक्ष के लिये यह 'धर्म' एक साधन विशेष है और प्रत्येक मुमुक्षु प्राणी कर्मबन्धन को तोड़ डालने वाले इस धर्म को ही सर्व प्रथम चाहता है।

सेनान्यम्—सेनानी या सेनापति। सेनां नयति इति सेनानीतम्। सेना + नी + क्विप्, द्वितीया विभक्ति एकवचन। सेनानी के अभाव में सेना अपनी पूरी क्षमता से नहीं लड़ पाती। सेनानी हर प्रकार के आयुधों का प्रयोग करने में दक्ष और सभी युद्ध कलाओं में निष्णात होता है। वह बुद्धिमान् और फुर्तीला होता है। तात्कालिक उपाय सोचने अथवा विलक्षण व्यूह-रचना करने में कुशल होता है। उसे दुर्धर्ष और दूसरों को हतप्रभ कर देने वाले समस्त गुणों से युक्त होना चाहिये। शत्रु के प्रति उसका व्यवहार कठोर और स्वपक्ष के प्रति मृदु होना चाहिये। उसकी आवाज ऐसी होनी चाहिये जिससे शत्रु भयभीत हों एवं अपने पक्ष के सैनिकों में स्फूर्ति और साहस का सञ्चार हो। तारकासुर के विरुद्ध युद्ध के लिये सेना का नेतृत्व करने के लिये, एक ऐसा ही, सर्वोत्कृष्ट गुणों से युक्त, पराक्रमी सेनापति देवताओं ने ब्रह्मा से बना देने की इच्छा व्यक्त की।

**गोप्तारं सुरसैन्यानां यं पुरस्कृत्य गोत्रभित्।**
**प्रत्यानेष्यति शत्रुभ्यो बन्दीमिव जयश्रियम्॥ ५२॥**

**अन्वय**–सुरसैन्यानां गोप्तारं यं पुरस्कृत्य गोत्रभित् जयश्रियं बन्दीमिव शत्रुभ्यः प्रत्यानेष्यति॥ ५२॥

**सञ्जी०**—गोप्तारमिति॥ सुरसैन्यानां देवतासेनानां गोप्तारं रक्षितारं यं सेनान्यं पुरस्कृत्य पुरोधाय। 'पुरोऽव्ययम्' इति गतित्वात् 'नमस्पुरसोर्गत्योः' इति सकारः। गां पृथ्वीं त्रायन्ते इति गोत्राास्तान्भिनत्तीति गोत्रभित् इन्द्रः जयश्रियं

बन्दीमिव बन्दीकृतां स्त्रियमिव शत्रुभ्यः सकाशात् प्रत्यानेष्यति प्रत्याहरिष्यति । तं स्रष्टुमिति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ५२ ॥

निर्मला—सुरसैन्यानाम् = देवसेनानाम् । गोप्तारम् = रक्षकम् । यम् = सेनानीम् । पुरस्कृत्य = अग्रे विधाय । गोत्रभित् = इन्द्रः । जयश्रियम् = विजय लक्ष्मीम् । बन्दीमिव = बन्दीकृतां स्त्रियमिव । शत्रुभ्यः = परेभ्यः । प्रत्यानेष्यति= प्रत्याहरिष्यति ॥ ५२ ॥

हिन्दी—देवसेना के रक्षक जिस सेनानी को आगे करके इन्द्र विजयलक्ष्मी को बन्दी बनायी गयी स्त्री की भाँति शत्रुओं से वापस छुड़ा लायेंगे ।

टिप्पणी—सुरसैन्यानाम्—देवताओं के सैनिकों का । सेनायां भवाः सैन्याः । सुराणां सैन्याः सुरसैन्याः, तेषां सुरसैन्यानाम् । गोप्तारम्—रक्षक को । गुप् ( रक्षणे ) + तृच्—गोप्तृ ( गोप्ता ), द्वितीया विभक्ति, एकवचन । सेनापति अपने सैनिकों की देखभाल करता है, उनकी सुखसुविधा का ध्यान रखता है और ऐसी रणनीति व कला सिखलाता है कि वे अधिक से अधिक शत्रु सेना का संहार करते हुये आत्म-रक्षा कर सकें । अतएव सेनापति हमेशा यही प्रयत्न करता है कि हमारे शत्रु की अधिक से अधिक क्षति हो और हमारे सेना की कम क्षति हो । इस प्रकार वह अपनी सेना का रक्षक होता है । गोत्रभित्—इन्द्र । गोत्रं गोत्रान् वा भिनत्ति इति गोत्रभित् । 'गोत्र' के दो अर्थ होते हैं—१. पहाड़ और २. गायों के बाँधने का स्थान । पहले अर्थ के अनुसार प्राचीन काल में पहाड़ उड़ते थे । इन्द्र ने उनके पंखों को वज्र से काटकर स्थायी बना दिया अतः उसे 'गोत्रभित्' कहते हैं । दूसरे अर्थ के अनुसार पणि नामक दस्यु जाति के लोगों ने एक बार देवताओं के गुरु बृहस्पति की गायें चुरा लीं और उसे दुर्गम स्थान पर ले जाकर रख दिया । इन्द्र ने सरमा नामक अपनी कुतिया को गुप्तचर के रूप में भेजकर उस स्थान का पता लगाया, फिर उस स्थान के अवरोधों को नष्ट कर पणियों को परास्त कर गायों का उद्धार किया, अतएव उसे 'गोत्रभित्' कहते हैं । जय-श्रियम्—विजयलक्ष्मी को । जयस्य श्रीः जयश्रीः, तां जयश्रियम् । तारकासुर ने मानों इन्द्र की विजयलक्ष्मी को ही बन्दी बना लिया है । योग्य सेनापति की संरक्षकता में वह युद्ध करके अपनी बन्दिनी विजयलक्ष्मी को छुड़ा कर वापस लायेगा । अर्थात् अपनी पराजय का बदला लेकर अपने यशः कलंक को मिटा-येगा । उपमा अलङ्कार है ।

वचस्यवसिते तस्मिन्ससर्ज गिरमात्मभूः ।
गर्जितानन्तरां वृष्टिं सौभाग्येन जिगाय सा ॥ ५३ ॥

अन्वय—तस्मिन् वचसि अवसिते सति आत्मभूः गिरं ससर्ज, सा सौभाग्येन गर्जितानन्तरां वृष्टिं जिगाय ॥ ५३ ॥

सञ्जी०—वचसीति ॥ तस्मिन् बार्हस्पत्ये वचसि अवसिते परिसमाप्ते सति आत्मभूः ब्रह्मा गिरं वाचं ससर्ज जगादेत्यर्थः । सा गीः सौभाग्येन मनोहरत्वेन । 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इत्युभयपदवृद्धिः । गर्जितानन्तरां गर्जितात्गर्जितस्य वानन्तरं प्रवृत्तां वृष्टिं जिगाय जितवती । गर्जितपरत्वाद् वृष्टेरिव तद्विज्ञापनफलत्वाद्गिरः सुभगत्वमिति भावः ॥ ५३ ॥

निर्मला—तस्मिन् = बार्हस्पत्ये । वचसि = वचने । अवसिते सति = समाप्ते सति । आत्मभूः = स्वयम्भूः । गिरम् = वाचम् । ससर्ज = जगाद । सा = गीः । सौभाग्येन = मनोहरत्वेन । गर्जितानन्तराम् = गर्जितस्य पश्चाद्वर्तिनीम् । वृष्टिम् = वर्षाम् । जिगाय = जितवती ॥ ५३ ॥

हिन्दी—बृहस्पति की बातें समाप्त हो जाने पर ब्रह्मा बोले । उस वाणी ने मनोहरता के कारण मेघगर्जन के बाद होनेवाली वर्षा को भी मात कर दिया ।

टिप्पणी—आत्मभूः—ब्रह्मा, स्वयम्भू । आत्मना भवतीति आत्मभूः । देवगणों द्वारा पूर्व श्लोकों में की गयी स्तुतियों में भी इन्हें 'आत्मभू' बतलाया गया है । सौभाग्येन—मनोहरता से । सुभगस्य भावः सौभाग्यम्, तेन सौभाग्येन । सुभग + ष्यञ्, तृतीया वि० एक व० । जिस कारण से कोई वस्तु किसी को प्रिय लगती है, वह कारण ही उस वस्तु का 'सौभाग्य' है । गर्जितानन्तराम्—गर्जन के अनन्तर ( होने ) वाली अथवा गड़गड़ाहट के बाद ( होने ) वाली । 'वृष्टिम्' का विशेषण । गर्जितस्य अनन्तरा गर्जितानन्तरा, तां गर्जितानन्तराम् । बादलों के परस्पर घर्षण से गड़गड़ाहट की ध्वनि निकलती है, वह गर्जन है । जब बादल इस प्रकार गरजते हुये आपस में घर्षण करके खूब समझ जाते हैं तब इसके बाद अच्छीवृष्टि की सम्भावना रहती है ।

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार है । जिस प्रकार बादलों की गम्भीर ध्वनि के बाद सबको आप्लावित करने वाली वर्षा सुखद होती है, सबको अच्छी लगती है, उसी प्रकार बृहस्पति के निवेदन करने के बाद ब्रह्मा की वाणी भी देवगणों को सन्तुष्ट करने के कारण अति प्रिय हुई ।

सम्पत्स्यते वः कामोऽयं कालः कश्चित्प्रतीक्ष्यताम् ।
न त्वस्य सिद्धौ यास्यामि सर्गव्यापारमात्मना ॥ ५४ ॥

अन्वय—अयं वः कामः सम्पत्स्यते, कश्चित् कालः प्रतीक्ष्यतां, तु अस्य सिद्धौ आत्मना सर्गव्यापारं न यास्यामि ॥ ५४ ॥

सञ्जी०—सम्पत्स्यत इति ॥ अयं वः युष्माकं कामः मनोरथः सेनानीरूपः सम्पत्स्यते सेत्स्यति । कश्चित् कियानपि कालः प्रतीक्ष्यताम् । तु किन्तु अस्य सेनान्यः सिद्धौ विषये आत्मना स्वयं सर्गव्यापारं सर्गः सृष्टिरेव व्यापारस्तं न यास्यामि । नाहं स्रक्ष्यामीत्यर्थः ॥ ५४ ॥

निर्मला—अयम् = तारकासुरवधरूपः । वः = युष्माकम् । कामः=मनोरथः । सम्पत्स्यते = सेत्स्यति । कश्चित् = कियानपि । कालः = समयः । प्रतीक्ष्यताम् = पाल्यताम् । अस्य = मनोरथस्य । सिद्धौ = सिद्धिविषये । आत्मना = स्वयम् । सर्गव्यापारम् = सृष्टिप्रक्रियाम् । न यास्यामि = न गमिष्यामि ॥ ५४ ॥

हिन्दी—आप सबका यह मनोरथ पूर्ण होगा, कुछ समय तक प्रतीक्षा कीजिये । कार्य सिद्धि के लिये मैं अपने आपको जन्म व्यापार में नहीं लगाऊँगा ।

टिप्पणी—कामः सम्पत्स्यते—मनोरथ पूर्ण होगा; इच्छा पूरी होगी । कुछ देर पहले देवताओं की ओर से गुरु बृहस्पति ने एक तेजस्वी, पराक्रमी सेनानी प्राप्त करने की इच्छा की थी । ब्रह्मा इस समय उसी इच्छा की ओर सङ्केत करते हुये कह रहे है कि आपकी वह कामना अवश्य पूर्ण होगी । अथवा, देवों की परम-इच्छा तारक का विनाश हो जाय--यह है । वह भी पूर्ण होगी—ऐसा ब्रह्मा आश्वासन देते हैं । कश्चित् कालः--कुछ समय, कोई ( अनुकूल ) अवसर । प्रत्येक कार्य का एक विशिष्ट अवसर होता है । ब्रह्मा के कहने का आशय है कि अभी तारकासुर के विनाश का समय नहीं प्राप्त है । अतः कुछ समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी । शिवपुराण में इस कथन के सन्दर्भ में कारण बताते हुये लिखा गया है—'तपःफलविपाकस्तु तस्यासीदधुना महान् ।' इसका अभिप्रायः है कि इस समय तक तारकासुर की तपस्या का श्रेष्ठ फल ( पुण्य ) क्षीण नहीं हुआ था और अतिशयरूप में विद्यमान् था । अतः जब तक उसके पुण्य क्षीण नहीं हो जाते तब तक उसकी मृत्यु का कारण उपस्थित नहीं होगा । अस्य सिद्धौ--इस ( कार्य ) की सिद्धि ( सफलता ) में । तारकासुर के विनाश-रूप कार्य को पूर्ण करने में ।

सर्गव्यापारम्--सृष्टि ( जन्म ) के व्यापार में। सर्गस्य व्यापारः अथवा, सर्ग एव व्यापारः सर्गव्यापारः, तं सर्गव्यापारम्। प्रायः जब-जब देवगण और यह लोक महा दैत्यों के अत्याचार से उत्पीड़न की पराकष्ठा पर पहुँच गये थे, तब-तब भगवान् ने स्वयं अवतार लेकर उन दैत्यों-राक्षसों का वध किया था, अथवा अपना रूप बदल कर उन्हें मार या मरवा डाला था। किन्तु इस बार ब्रह्मा ने कहा कि मैं स्वयं जन्म नहीं लूंगा। स्वयं जन्म न लेने और तारकासुर को न मारने में क्या कारण है इसे उन्होंने ( अगले श्लोक में ) व्यक्त किया है।

कुत इत्याशङ्क्याह--

**इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम्।**
**विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् ॥ ५५ ॥**

**अन्वय**—इतः इव प्राप्तश्रीः सः दैत्यः इतः एव क्षयं न अर्हति, विषवृक्षः अपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुम् असाम्प्रतम् ॥ ५५ ॥

**सञ्जी०**—इत इति ॥ इतः मत्त एव प्राप्तश्रीः लब्धोदयः स दैत्यः तारकासुरः इतः मत्त एव क्षयं नाशं न अर्हति। तथा हि--अन्यो वृक्षस्तावदास्ताम्। विषस्य वृक्षः विषवृक्षः अपि संवर्ध्य कुतश्चित्कारणात्सम्यग्वर्धयित्वा स्वयं छेत्तुम् असाम्प्रतम् न्याय्यः। असाम्प्रतमित्यनेन निपातेनाभिहितत्वाद् वृक्ष इति द्वितीयान्तो न भवति अनभिहिते कर्मणि द्वितीयाभिधानात्। यथाह वामनः--निपातेनाप्यभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिः। परिगणनस्य प्रायिकत्वात् इति ॥ ५५ ॥

**निर्मला**—इतः = मत्तः। प्राप्तश्रीः—लब्धोदयः। सः दैत्यः = तारकासुरः। इतः एव = मत्तः एव। क्षयम् = विनाशम्। न अर्हति = न अपेक्षते, न योग्यः। विषवृक्षः = विषपादपः। संवर्ध्य = वर्धयित्वा। स्वयम् = स्वयमेव। छेत्तुम् = कर्तितुम्। असाम्प्रतम् = अयुक्तम् ॥ ५५ ॥

**हिन्दी**—मुझसे ही ( वरदानरूप ) उदय प्राप्त कर वह दानव मेरे ही द्वारा विनाश को प्राप्त नहीं होना चहिये। विष का पेड़ भी ( उगाकर ) बढ़ा कर फिर उसे स्वयमेव काटना उचित नहीं है।

**टिप्पणी**—इतः--इधर से, यहीं से मल्लिनाथ ने इसका अर्थ 'मत्तः' अर्थात् मुझसे या मेरे यहाँ से किया। प्रसङ्गानुकूल होने के साथ-साथ यही अर्थ उचित भी है। प्राप्तश्रीः—प्राप्त ऐश्वर्य वाला अथवा प्राप्त अभ्युदयवाला। प्राप्ता श्रीः येन स

प्राप्तश्रीः। तारकासुर को उग्रतप से निवारण करने के लिये ब्रह्मा ने स्वयं उपस्थित होकर उसे अभीप्सित वर प्रदान किया था। इस प्रकार तारकासुर का इस समय जो भी अभ्युदय है, ब्रह्मा द्वारा प्रदत्त वर का ही परिणाम है। विषवृक्षः— विष का पेड़। विषस्य वृक्षः विषवृक्षः। टीकाकार नारायण ने विषवृक्ष के विषय में लिखा है—"यस्य स्पर्शनमात्रेण वायुसंस्पर्शनेन वा। म्रियन्ते जन्तवः सर्वे विषवृक्षः स कीर्तितः ॥' इस प्रकार विषवृक्ष अत्यन्त भयंकर प्रभाव वाला वृक्ष है। वैसे भी अनेकों वनस्पतियाँ ( पेड़ पौधे ) होती हैं जिनके फल-फूल अथवा उनके अवयव और रस, विष तुल्य प्रभाव वाले ( या स्वयं विष ही ) होते हैं। स्पष्ट है कि ऐसे विषवृक्ष किसी भी व्यक्ति ( सामान्य ) को इष्ट नहीं होंगे। असाम्प्रतम्– अनुचितं। मल्लिनाथ ने 'अर्थ किया है—'अनर्ह'। भट्टोजि दीक्षित ने कारक प्रकरण में द्वितीया विभक्ति के अन्तर्गत आये हुये सूत्र 'अनभिहिते कर्मणि द्वितीया' के अन्तर्गत 'क्वचिन्निपातेनाभिधानम्' लिखकर उदाहरण के रूप में 'विषवृक्षोऽपि ......असाम्प्रतम्' दिया है और असाम्प्रतम् का अर्थ—'न युज्यते' किया है।

जिस प्रकार कोई व्यक्ति यदि स्वयं अपने हाथ से विष का वृक्ष लगा दे तो उसे स्वयं ही काटना ठीक नहीं है उसी प्रकार तारकासुर को मैंने ही वर दिया था और मेरे द्वारा उसका विनाश उचित नहीं है।

**वृतं तेनेदमेव प्राङ्मया चास्मै प्रतिश्रुतम्।**
**वरेण शमितं लोकानलं दग्धुं हि तत्तपः ॥ ५६ ॥**

अन्वय—प्राक् तेन इदम् एव वृत्तम्, मया अस्मै प्रतिश्रुतं हि लोकान् दग्धुम् अलं तत्तपः वरेण शमितम् ॥ ५६ ॥

सञ्जी०—वृतमिति ॥ प्राक् पूर्वं तेन असुरेण इदमेव देवैरवध्यत्वमेव वृतं प्रार्थितम्। मया च अस्मै तारकाय प्रतिश्रुतं प्रतिज्ञातम् ॥ 'प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। कर्तव्यं चैतदित्याह—लोकान्दग्धुम् अलं शक्तम्। 'पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु' इति तुमुन्प्रत्ययः। तस्य तपः तत्तपः वरेण वरदानेन शमितं हि। मयेति शेषः ॥ ५६ ॥

निर्मला—प्राक् = पुरा। तेन = तारकेण। एदम् एव = देवैरवध्यत्वमेव। वृतम् = काङ्क्षितम्। मया = ब्रह्मणा। अस्मै = तारकाय। प्रतिश्रुतम् = प्रतिज्ञातम्। लोकान् = विश्वान्। दग्धुम् = भस्मीकर्तुम्। अलम् = पर्याप्तम्। तत्तपः = तस्य तपः। वरेण = वरदानेन। शमितम् = शान्तं कृतम् ॥ ५६ ॥

हिन्दी—पहले उसके द्वारा यही माँगा गया था और मैंने उसे स्वीकार कर लिया। (इस प्रकार) संसार को भस्म करने में समर्थ उसकी तपस्या इस वरदान से शान्त कर दी गयी।

टिप्पणी—इदम् एव वृतम्—यही वरण किया गया था। देवों से ब्रह्मा ने कहा कि उसके द्वारा 'यही' माँगा गया था। किन्तु क्या माँगा गया था, यह इसके पूर्व के किसी श्लोक में संकेतित नहीं है। किसी भी श्लोक में यह स्पष्ट रूप से नहीं लिखा है कि तारकासुर ने ब्रह्मा से क्या माँगा था? मल्लिनाथ ने 'इदमेव' का अर्थ किया है—'देवैरवध्यत्वमेव।' इस पर मेरा नम्र निवेदन है कि क्या कार्तिकेय 'देव' नहीं थे? उनकी गणना तो देवताओं में आज भी की जाती है। मल्लिनाथ का यह अर्थ समीचीन प्रतीत नहीं होता। क्योंकि पूर्वश्लोक संख्या ५१-५२ से स्पष्ट है कि देवताओं ने ब्रह्मा से एक ऐसा सेनानी प्रदान करने को कहा जो देव सेना का संरक्षक हो और जिसके नायकत्व में इन्द्र लड़कर पुनः अपनी बन्दिनी जयश्री को छुड़ा लायें। आशय स्पष्ट है कि उस सेनानी के हाथों तारकासुर का वध हो। फिर ब्रह्मा ने देवताओं से कहा है (श्लोक ५४) कि उनकी कामना पूरी होगी। कुछ समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। अतएव यह स्पष्ट है कि तारकासुर ने देवों के हाथों अवध्यत्व की कामना नहीं की थी। तारकासुर ने कौन-सा वर माँगा था?—यह महाकवि कालिदास ने स्पष्टरूप से उल्लेख नहीं किया है। (किन्तु श्लोक ५५ के बाद श्लोक ५६ के इस 'इदमेव' पद को देखने से शङ्का होती है कि इन दोनों श्लोकों के बीच अवश्य ही कुछ वस्तु छुटी हुई-सी खटक रही है। सम्भव है तारकासुर द्वारा माँगा गया वर महाकवि द्वारा उल्लखित रहा हो और वह मूल श्लोक किन्हीं कारणवश आज लुप्त हो गया हो, जिसकी स्थिति इन दोनों श्लोकों के बीच में थी।) पुराणों में तारकासुर के द्वारा वर माँगने का उल्लेख मिलता है। शिवपुराण के वर्णनानुसार उसने शिव के पुत्र के हाथों अपने मृत्यु की कामना की थी—'शिववीर्यसमुत्पन्नः पुत्रः सेनापतिर्यदा। भूत्वा शास्त्रं क्षितेन्मह्यं तदा मे मरणं भवेत्॥' किन्तु अन्य (पुराण) वर्णन के अनुसार उसने वर माँगा था कि मुझे सात दिन के शिशु को छोड़कर कोई अन्य न मार सके। ब्रह्मा ने उसको यह इच्छित वर प्रदान किया। प्रतिश्रुतम्—वचन दिया, वादा किया। प्रति +

श्रु + क्त। तारकासुर ने जो वरदान मांगा ब्रह्मा ने उसे ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। इसी श्लोक में ब्रह्मा ने बतलाया है कि मैंने उसे यथोचित वर क्यों प्रदान किया। तत्तपः—उसकी तपश्चर्या। तस्य तपः तत्तपः एवं तत्तपः। तारकासुर की तपस्या इतनी उग्र थी कि सम्पूर्ण लोगों को वह अपनी तपस्या के तेज से जलाकर खाक कर डालता। उस तपस्या के निवारण हेतु ही ब्रह्मा ने वरदान दिया। ब्रह्मा के कहने का आशय है कि वर देकर मैंने उस भयङ्कर सर्वनाश को रोक दिया क्योंकि वर पाकर तारकासुर तपस्या करने से विमुख हो गया। इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

**संयुगे सांयुगीनं तमुद्यन्तं प्रसहेत कः।**
**अंशादृते निषिक्तस्य नीललोहितरेतसः॥ ५७॥**

**अन्वय**—संयुगे उद्यतं सांयुगीनं तं निषिक्तस्य नीललोहितरेतसः अंशात् ऋते कः प्रसहेत॥ ५७॥

**सञ्जी०**—संयुग इति॥ संयुगे युद्धे उद्यन्तं व्याप्रियमाणम्। संयुगे साधुं सांयुगीनम्। 'प्रतिजनादिभ्यः खञ्' इति खञ्प्रत्ययः। तं तारकं निषिक्तस्य स्वचित्क्षेत्रे क्षरितस्य नीललोहितरेतसः। 'नीलः कण्ठे लोहितश्च केशेष्विति नीललोहित इति पुराणम्।' इति स्वामी। तस्य नीललोहितस्य धूर्जटेः रेतसः शुक्रस्य अंशाद् ऋते अंशं विना अन्यः कः प्रसहेत अभिभवेत्। 'प्रहसनमभिभवः' इति वृत्तिकारः॥ ५७॥

**निर्मला**—संयुगे = युद्धे। उद्यतम् = बद्धपरिकरम्। सांयुगीनम् = युद्धकुशलम्। तम् = तारकम्। निषिक्तस्य = क्षरितस्य। नीललोहितरेतसः = शिववीर्यस्य। अंशात् ऋते = भागं विना। कः प्रसहेत् = कोऽभिभवेत्॥ ५७॥

**हिन्दी**—युद्ध में उद्यत युद्धकुशल उस तारकासुर का सामना आहित शिव के वीर्य के अंश से (उत्पन्न वीर) विना और कौन कर सकता है?

**टिप्पणी**—सांयुगीनम्-युद्ध कुशल। 'तं' का विशेषण। यह पद तारकासुर के लिये आया हुआ है। संयुग का अर्थ युद्ध होता है। जिसका वास्ता बराबर युद्धों से पड़ता रहता है और इस प्रकार जो पूर्वगृहीत शस्त्रविद्या के निरन्तर अभ्यास के द्वारा उसके प्रयोग में पटु हो जाते हैं, जो युद्ध की विभीषिकाओं के अभ्यस्त हो जाते हैं, जिन्हें शत्रु की गतिविधियों और चालों का पूर्ण अनुभव

हो जाता है, जो रणनीति स्वयं निर्धारित कर सकते हैं, जिनमें शस्त्रों की झंकार और युद्धवाद्यों की ध्वनि से उत्साह का सञ्चार होता है और आखिरी साँस तक रण से कदम पीछे नहीं हटाते वे वीर 'सांयुगीन' कहे जाते हैं। संयुग + ख ( -ईन )। तारकासुर भी ऐसा ही था। ब्रह्मा उसे भलीभाँति जानते हैं। निषिक्तस्य--सींचे गये, सम्यग्रूप से स्थापित, आहित। नि + सिञ्च् + क्त, षष्ठी वि० एकवचन। नीललोहितरेतसः—शिव के वीर्य के। नीलश्चासौ लोहितश्चेति नीललोहितः, नीललोहितस्य रेतः नीललोहितरेतः तस्य नीललोहितरेतसः। शिव का नाम 'नीललोहित' पड़ने का कारण बताते हुये टीकाकार मल्लिनाथ ने पुराण का वचन उद्धृत किया है—'नीलः कण्ठे लोहितश्च केशेष्विति नीललोहित इति पुराणम्।' अर्थात् कण्ठ नीला और बाल लाल रंग का होने के कारण शिव 'नीललोहित' की संज्ञा से विभूषित किये गये। एम० आर० काले ने कुमारसम्भव पर की गयी अपनी टिप्पणी में लिखा है—'नीलं येन ममाङ्गं तु रसाक्तं लोहितं त्विषा। नीललोहित इत्येव ततोऽहं परिकीर्तितः॥' अर्थात् नीलवर्ण के अङ्गों की रक्तकान्ति के कारण शिव का नाम नीललोहित हुआ। शिव का वीर्य अमोघ है। ब्रह्मा का कथन है कि ऐसे शिव के अमोघ वीर्य के अंश के अतिरिक्त और कौन इस ताकासुर को पराजित कर सकता है। अतः शिव के वीर्यांश से जब भलिभाँति कोई कुमार उत्पन्न हो तभी वह असुर मारा जा सकता है। क्योंकि सात दिन के आयु के बालक से ही उस तारकासुर की मृत्यु होगी। अतः सात दिन के बालक को ही अमित शक्तिशाली होना चाहिये। युद्ध विशारद और सम्पूर्ण आयुधों के प्रयोग में प्रवीणता भी होनी चाहिये। अतः इस प्रकार का वही बालक हो सकता है जो शिव के वीर्यांश से उत्पन्न हो। ध्यातव्य है कि सती की मृत्यु के बाद शिव ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुये तपश्चरण करते आ रहे थे। अतएव उनके वीर्य का परम तेजोयुक्त और अमोघ होना स्वतःसिद्ध है। इस श्लोक में 'काकु' माना जा सकता है।

शिवपुराण में भी ऐसा ही वर्णन है—

'युद्धन्तमाहवे तं च महाबलपराक्रमम्।
समर्थं को भवेज्जेतुं विना शम्भुसुतं सुराः॥'

कथमसावीदृक्शक्तिरित्याह—

**स हि देवः परं ज्योतिस्तमःपारे व्यवस्थितम्।**
**परिच्छिन्नप्रभावर्द्धिर्न मया न च विष्णुना॥ ५८॥**

अन्वय—सः देवः तमःपारे व्यवस्थितं ज्योतिः हि, मया विष्णुना च परिच्छिन्नप्रभावर्द्धिः न ॥ ५८ ॥

सञ्जी०—स इति ॥ स देवः नीललोहितः तमःपारे तमसः पारे परतः व्यवस्थितं तमोगुणातीतं परं ज्योतिः परमात्मा हि । अत एव मया परिच्छिन्नप्रभावर्द्धिः अवगाढमहिमातिशयः न भवति तथा विष्णुना च न। अतस्तस्यासाध्यं नास्तीत्यर्थः ।

निर्मला सः = तथोक्तः । देवः = शिवः । तमःपारे = तमोगुणस्य परतः । व्यवस्थितम् = सुस्थितम् । परम् = सर्वोत्कृष्टम् । ज्योतिः = प्रकाशः । मया = ब्रह्मणा । विष्णुना = सुदर्शनधारिणा । परिच्छिन्नप्रभावर्द्धिः = अवगाढमहिमातिशयः । न = नास्ति ॥ ५८ ॥

हिन्दी—वह देवाधिदेव शिव तमोगुणातीत सर्वोत्कृष्ट प्रकाश हैं और मेरे तथा विष्णु के द्वारा उनकी महिमातिशय का ज्ञान नहीं पाया जा सका ।

टिप्पणी—तमःपारे—तमोगुणातीत अन्धकार रूपी अज्ञान से परे । तमसः पारं तमःपारं, तस्मिन् तमःपारे । मल्लिनाथ आदि टीकाकारों ने 'तमःपारे' का 'तमोगुणातीत' अर्थ किया है । परन्तु शिव को तमोरूपात्मक ही कहा गया है जब कि ब्रह्मा और विष्णु क्रमशः सत्व एवं रजोरूप हैं। अतएव शिव को तमोगुणातीत कहना कहाँ तक न्याय सङ्गत है । किन्तु यदि यही अर्थ किया जाय तो यह शिव की महिमातिशय का सूचक होगा । जैसे लोक में कोयले की खान से उत्पन्न हीरा तात्त्विक रूप से एक होते हुये भी, कोयले से भिन्न ही होता है उसी प्रकार तमोगुणात्मक होते हुये भी शिव तमोगुणातीत कहे जा सकते । वैसे 'तमस' का अर्थ यहाँ अन्धकार रूपी अज्ञान भी किया सकता है । परं ज्योतिः—सर्वोत्कृष्ट प्रकाश । 'देव' का तो अर्थ ही है जो प्रकाशित हो । अतएव शिव केवल प्रकाशित होनेवाले ही नहीं, प्रकाशित करनेवाले भी हैं । 'परं ज्योतिः' का यही आशय है कि वे प्रकाश रूप ज्ञान के स्रोत हैं । परिच्छिन्नप्रभावर्द्धिः—अवगाढ महिमा की सम्पत्तिवाले । प्रभावस्य ऋद्धि प्रभावर्द्धिः, परिच्छिन्ना प्रभावर्द्धिः यस्य सः परिच्छिन्नप्रभावर्द्धिः । आशय यह है कि मैं और विष्णु भी जिसकी महिमा का पार न पा सके । इसमें एक अन्तर्कथा है । एक बार विष्णु और ब्रह्मा में अपने को बड़ा सिद्ध करने के प्रसङ्ग में विवाद छिड़ गया अतः इन्होंने शिव को अपना मध्यस्थ बनाया । शिव ने देखा कि ये दोनों मोह-भ्रम में फँसे हुये हैं अतः इनका मोहभङ्ग करना

आवश्यक है। अतएव बोले कि—'न तुम बड़े, न तुम बड़ा, बड़ा सबसे हूँ मैं।

पहले तुम दोनों जाओ, मेरे आदि-अन्त का पता लगाओ। ब्रह्मा और विष्णु चल पड़े। विष्णु नीचे की तरफ गये और ब्रह्मा ऊपर की ओर। विष्णु तो जाते-जाते थक गये और अपनी पूरी गति से कई दिन लगातार चलने पर भी जब आदि तक नहीं पहुँच पाये तो अन्त में निराश होकर लौट आये और मुँह लटका कर बैठ गये। ब्रह्मा भी उसी प्रकार ऊपर की ओर चलते जा रहे थे किन्तु शिव (लिङ्ग) का अन्त मिलने का नाम ही न था। वे भी निराश होकर लौटने वाले थे कि ऊपर से 'केतकी' आती हुई दिखायी पड़ी। ब्रह्मा जानते थे कि 'केतकी' सदा शिव के सिर पर विराजमान रहती है अतः उसे झूठी गवाही देने के लिये राजी कर लिया और शिव के पास पहुँच कर बोले कि मैंने आपके अन्त का पता लगा लिया है। प्रमाण के लिये साथ में 'केतकी' को भी लेता आया हूँ। केतकी ने भी ब्रह्मा के कथन का समर्थन किया। किन्तु जब शिव ने केतकी से डाँट कर पूँछा तो उसने सही-सही बात उगल दी। (कहीं पर ध्यानस्थ होकर शिव द्वारा सच्चाई का पता लगाये जाने की बात भी मिलती है)। तब शिव ने विष्णु की तो प्रशंसा की और ब्रह्मा को शाप दिया कि झूठ बोलने के कारण आज से पृथिवी पर तुम्हारी कोई मूर्ति वनाकर पूजा नहीं करेगा। केतकी को उसी दिन अपनी सेवा से पृथक् कर दिया और कहा कि आज से कोई भी भक्त मुझे केतकी पुष्प अर्पण न करे। श्रीहर्ष ने भी नैषधीयचरित में केतकी के प्रति शिव के शाप की कथा का सङ्केत किया है।

सम्प्रति तदंशोत्पत्तावुपायं दर्शयति—

**उमारूपेण ते यूयं संयमस्तिमितं मनः।**
**शम्भोर्यतध्वमाक्रष्टुमयस्कान्तेन लोहवत् ॥ ५९ ॥**

अन्वय— ते यूयं संयमस्तिमितं शम्भोः मनः उमारूपेण अयस्कान्तेन लोहवद् आक्रष्टुं यतध्वम् ॥ ५९ ॥

**सञ्जी०**—उमेति ॥ ते कार्यार्थिनः यूयं संयमस्तिमितं समाधिनिश्चलं शम्भोः मनः उमारूपेण उमासौन्दर्येण। 'रूपं स्वभावे सौन्दर्ये नाणके पशुशब्दयोः। ग्रन्थावृत्तौ नाटकादावाकारश्लोकयोरपि ॥' इति विश्वः। अयस्कान्तेन मणिविशेषेण। 'कस्कादिषु च' इति सकारः। लोहवत् अयोधातुमिव। 'तेन तुल्यं

क्रियार्थेष्टः' इति क्तिप्रत्ययो मृग्यः। आक्रष्टुम् आहर्तुं यतध्वम् उद्युक्ता भवत ॥ ५९ ॥

निर्मला—ते = कार्यार्थिनः। यूयम् = अमराः संयमस्तिमितम् = समाधि-निश्चलम्। शम्भोः = शिवस्य। मनः = अन्तःकरणम्। उमारूपेण = पार्वती-सौन्दर्येण। अयस्कान्तेन = चुम्बकमणिना लोहवद् = अयोधातुमिव। आक्रष्टुम् = आहर्तुम्। यतध्वम् = यत्नशीलो भवत ॥ ५९ ॥

हिन्दी—आप सभी देवगण समाधि से निश्चल शिव के मन को पार्वती के सौन्दर्य रूपी चुम्बकमणि से लोह की भाँति अकृष्ट करने का प्रयत्न कीजिये।

टिप्पणी—संयमस्तिमितम्—समाधि से निश्चल। संयमेन स्तिमितम्, संयमस्तिमितम्। सती द्वारा अपने पिता दक्ष के हवन कुण्ड में कूदकर देहत्याग के बाद से शिव ने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुये तपश्चर्या आरम्भ की थी। वे प्रायः समाधि की अवस्था में रहते थे। मनः— अन्तःकरण या चित्त। अत्यधिक वेग वाला यह मन बहुत ही चञ्चल है। इसका निरोध बड़ा ही दुष्कर है। भगवान् श्रीकृष्ण से गीता में अर्जुन ने कहा है—'चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढ़म्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥' (६.३४)। अतएव चित्त या मन को एकाग्र करने में मनुष्य को बड़ा ही कठिन प्रयास करना पड़ता है। मन को एकाग्र करने वाला जितेन्द्रिय ही समाधियुक्त हो सकता है। अयस्कान्तेन लोहवद्—चुम्बक द्वारा लोहे जैसा। अयसः कान्तः अयस्कान्तः तेन अयस्कान्तेन। इसका शाब्दिक अर्थ हुआ— लोहे का प्रिय। जिस प्रकार दो प्रेमीजन, परस्पर चाहने वाले, एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होते हैं, उसी प्रकार लोहा भी चुम्बक द्वारा आकृष्ट होता है। वास्तव में चुम्बक की भौतिक बाह्यरूपता भी लोहे के ही समान होती है किन्तु उसके अवयव (कण अथवा अणु Particle or Molecule) की अपेक्षा एक विशिष्ट क्रम में व्यवस्थित होते हैं और इसी कारण उसमें सजातीय पदार्थों को आकृष्ट करने का गुण पैदा होता है इस श्लोक में पार्वती का रूप (सौन्दर्य) और शिव का निश्चल मन क्रमशः चुम्बक और लोह के समान बताये गये हैं। शिव का मन उमा के सौन्दर्य द्वारा ही आकृष्ट किया जा सकता है। जिस प्रकार चुम्बक लोहे को खींचने में समर्थ होता है, वह अचल लोहे को अपनी शक्ति के अनुसार अपने समीप तक

खींच सकता है अथवा अपने पूर्वस्थान से हिलाडुला सकता है, उसी प्रकार पार्वती का सौन्दर्य ही शिव के अविचल मन को विचलित कर सकता है। अत एव ब्रह्मा कहते हैं कि देवों! ऐसा प्रयत्न करो कि शिव का मन पार्वती के सौन्दर्य को देखकर डिग जाय।

एम० आर० काले ने अपनी टिप्पणी में 'लोहवद्' में 'वतुप्' प्रत्यय-विधायक जिस सूत्र का निर्देश किया है (और स्वयं भी उक्त प्रत्यय-विधान विषयक शङ्का की है) उसके अनुसार 'लोहवद्' यह प्रयोग असाधु है। 'लोहमिव' होना चाहिये—यह काले महोदय का कथन समीचीन है। इस श्लोक में रूपक और उपमा अलङ्कार है।

**उभे एव क्षमे वोढुमुभयोर्बीजमाहितम्।**
**सा वा शम्भोस्तदीया वा मूर्तिर्जलमयी मम ॥ ६० ॥**

**अन्वय**—उभयोः आहितं बीजं वोढुं सा वा शम्भोः तदीया जलमयी मूर्तिः वा मम, उभे एव क्षमे ॥ ६० ॥

**सञ्जी०**—उभे इति ॥ उभयोः शम्भोर्मम च आहितं निषिक्तं बीजं तेजः वोढुं सा वा उमा शम्भोः अष्टमूर्तेः तस्य इयं तदीया जलमयी मूर्तिः वा मम। उभे एव क्षमे। न तृतीयेत्यर्थः। वा शब्दो द्वन्द्वार्थे, न तु त्वन्यार्थे। एतदेवोदाहृत्येत्यमेव व्याख्यातं गणव्याख्याने। अत्र दीपकालङ्कारः प्राकरणिकयोरुमामहेश्वरयोप्राकरणिकयोर्ब्रह्मजलमूर्त्योश्चौपम्यस्य गम्यत्वात्। यथाह भोजराजः—'प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां चौपम्यस्य गम्यत्वे दीपकमिति। न चेयं तुल्ययोगिता तस्याः केवलप्रस्तुतविषयत्वेन केवलाप्रस्तुतविषयत्वेन चोत्थानादिति ॥ ६० ॥

**निर्मला**—उभयोः = द्वयोः। आहितम् = निषिक्तम्। बीजम् = वीर्यम्। वोढुम् = धारयितुम्। सा वा = पार्वती वा। शम्भोः = शिवस्य। तदीया = तद्रूपिणी। जलमयी मूर्तिः = वारिरूपिणी तनुः। मम वा = ब्रह्मणः वा। उभे एव = द्वे एव। क्षमे = समर्थे ॥ ६० ॥

**हिन्दी**—हम दोनों के निषिक्त वीर्य को धारण करने में दो ही समर्थ हैं—वह पार्वती अथवा मेरी या शिव की वह जलरूपिणी मूर्ति।

**टिप्पणी**—उभयोः—दोनों का। इसका आशय है कि मेरा और शिव का बीजम्—तेज को, वीर्य को। दोनों का वीर्य अमोघ और परम शक्तियुक्त है। उसमें

इतनी शक्ति है, उसका इतना असह्य प्रभाव है कि सभी द्वारा उसे धारण किया जाना सम्भव नहीं है। शम्भोः तदीया जलमयी मूर्तिः मम वा—शिव की वह जलमयीमूर्ति अथवा मेरी ( जलमयीमूर्ति )। तस्य इयं तदीया।

भगवान् शिव की आठ प्रत्यक्ष मूर्तियाँ कही गयी हैं—'भूतार्कचन्द्रयज्वनो मूर्तयोऽष्टौ प्रकीर्तिता।' अर्थात् पञ्चमहाभूत ( पृथिवी, जल, अग्नि, आकाश, वायु ये पाँच ), सूर्य, चन्द्रमा और यजमान, ये आठ मूर्तियाँ ( स्वरूप ) शिव की हैं अर्थात् ये ही इस संसार के शिव-तत्त्व ( लोक के परमोपकारक ) हैं और शिव का तात्पर्य भी तो मङ्गल, कल्याण, शुभ—यही है। इस प्रकार जल भी शिव की एक मूर्ति है। फिर ब्रह्मा ने अपनी भी जलमयी मूर्ति होने की बात कही है। इसका आशय है कि ब्रह्मा सृष्टिकर्ता के रूप में माने जाते हैं और मनुस्मृति ( १.८ ) के अनुसार जल की ही उत्पत्ति सर्वप्रथम हुई थी—'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्।' इस प्रकार जल ब्रह्मा की भी एक मूर्ति हुआ। अभिप्राय यह है कि शिव का मन पार्वती के सौन्दर्यदर्शन से विचलित कराकर, पुनः उनका संयोग कराकर, स्खलित वीर्य का सेवन उन्हीं की जलमयी मूर्ति में कराने के बाद ही देवों को अभीष्ट सेनानी प्राप्त हो सकता है। इसी बात को अगले श्लोक में कहते हैं।

**तस्यात्मा शितिकण्ठस्य सैनापत्यमुपेत्य वः।**
**मोक्ष्यते सुरबन्दीनां वेणीर्वीर्यविभूतिभिः ॥ ६१ ॥**

**अन्वय**—तस्य शितिकण्ठस्य आत्मा वः सैनापत्यम् उपेत्य वीर्यविभूतिभिः सुरबन्दीनां वेणीः मोक्ष्यते ॥ ६१ ॥

**सञ्जी०**—तस्येति ॥ तस्य शितिकण्ठस्य अष्टमूर्तेः आत्मा। पुत्र इत्यर्थः। 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति श्रुतेः। वः युष्माकं सेनापतेर्भावः सैनापत्यं। 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्' इति यक्प्रत्ययः। उपेत्य प्राप्य वीर्यविभूतिभिः शौर्यसम्पत्तिभिः सुरबन्दीनां वेणीः मोक्ष्यते विस्रंसयिष्यति। तारकासुरं हनिष्यतीति भावः ॥ ६१ ॥

**निर्मला**—तस्य शितिकण्ठस्य = तस्य शिवस्य। आत्मा = पुत्रः। वः=युष्माकम्। सैनापत्यम् = सेनापतित्वम्। उपेत्य = प्राप्य। वीर्यविभूतिभिः = ओजःसामर्थ्यैः। सुरबन्दीनाम्=देवङ्गनाबन्दीनाम्। वेणीः=केशग्रथितरचनाः। मोक्ष्यते= विस्रंसयिष्यति ॥ ६१ ॥

हिन्दी—उस शिव का पुत्र आप लोगों का सेनापतित्व ग्रहण कर अपने ओजः-सामर्थ्य से बन्दी देवाङ्गनाओं की चोटियाँ सुलझायेगा।

टिप्पणी—शितिकण्ठस्य—नीलकण्ठ शिव का। शितिः कण्ठः कण्ठे वा यस्यः सः शितिकण्ठः, तस्य शितिकण्ठस्य। शिव के लिये इस पद का प्रयोग करके महाकवि ने लोकमात्र के प्रति उनकी परम कारुणिकता सूचित की है। वे स्वयं अपनी परवाह न करके परोपकार में संलग्न हो जाते हैं। समुद्र मन्थन के फलस्वरूप निकले हुये हलाहल विष का पान करके उन्होंने देव-दानवों समेत त्रिभुवन को उससे बचा लिया और आज भी उसे गले में ही धारण करने के ' .ण उनके गले में नीला निशान बन गया है। अतएव वे देवों के लिये अवश्य कुछ करेंगे। अतः देव निराश न हों और प्रयत्न करें। आत्मा—पुत्र। पिता के वीर्य से उत्पन्न पुत्र उसका आत्मस्वरूप ही होता है। श्रुति भी कहती है—'आत्मा वै जायते पुत्रः।' एवं 'आत्मा वै पुत्र नामासि।' इत्यादि। सैनापत्यम्—सेनापतित्व को। सेनायाः पतिः सेनापतिः, तस्य सेनापतेः भावः सैनापत्यम्। सेनापति+यक्। वीर्यविभूतिभिः ओजः सामर्थ्य से अथवा पराक्रम के ऐश्वर्य से। वीर्यस्य विभूतयः वीर्यविभूतयः ताभिः वीर्यविभूतिभिः। शिव का जो पुत्र उत्पन्न होगा वह शिव के वीर्य के प्रभाव से परम पराक्रमशाली होगा। वही युद्ध में तारकासुर का वध करेगा। सुरबन्दीनां वेणीः मोक्ष्यते—बन्दी देवाङ्गनाओं की चोटियाँ सुलझायेगा (खोलेगा) अर्थात् उन्हें मुक्त करायेगा। सुराणां वन्द्यः सुरबन्द्यः, तासां सुरबन्दीनाम्। तारकासुर ने देवताओं और उनकी पत्नियों को बन्दी बनाकर अलग-अलग रखा था। पत्नियाँ वियोगावस्था में एक ही चोटी बाँधती हैं और प्रसाधन नहीं करतीं। देवाङ्गनाएँ भी इसी धर्म का पालन करती हुई रूखी-सूखी एक वेणी धारण किये थीं। जब शिव का पुत्र तारकासुर को मार डालेगा तब उसकी कैद से देवाङ्गनाएँ मुक्त हो जायेंगी। इस प्रकार वे पुनः अपने प्रियतम-पतियों से मिल जायेंगी और अपनी एक वेणी को सुलझाकर उचित प्रसाधन करेंगी। इसके कारण रूप में शिव का पुत्र ही होगा। अतः ब्रह्मा ने कहा कि वह बन्दी देवाङ्गनाओं की वेणियों (चोटियों) को सुलझायेगा, मुक्त करेगा।

शिव के गले में नीला दाग पड़ने के कारण उन्हें नीलकण्ठ, श्रीकण्ठ आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता है। इस सम्बन्ध में कई पौराणिक आख्यान

उपलब्ध होते हैं। एम० आर० काले ने अपनी टिप्पणी में तीन का उल्लेख किया है :—

यह सर्वप्रसिद्ध है कि समुद्रमन्थन से निकले हुये हालाहल विष को भगवान् शिव पी गये और उसी के प्रभाव से उनके गले में नीला दाग पड़ गया :—

'एवमामन्त्र्य भगवान्भवानीं विश्वभावनः।
तद्विषं जग्धुमारेभे प्रभावज्ञान्वमोदत ॥
ततः करतलीकृत्य व्यापि हालाहलं विषम्।
अभक्षयन्महादेवः कृपया भूतभावनः ॥
तस्यापि दर्शयामास स्ववीर्यं जलकल्मषः।
यच्चकार गले नीलं तच्च साधोर्विभूषणम् ॥'

—भागवतपुराण ८. ७. ४१-४३।

२. दूसरा आख्यान यह है कि इन्द्र के वज्र के प्रहार से शिव के गले में नीला दाग पड़ गया :—

'दत्तः प्रहारः कुलिशेन पूर्वं तवेशान सुरराज्ञातिवीर्यः।
कण्ठे नैलं तेन ते यत्प्रवृत्तं तस्मात्ख्यातस्त्वं नीलकण्ठेति कल्प्यः ॥'

३. तीसरे आख्यान के अनुसार विष्णु ने अपने हाथ से शिव का गला दबाया था, उसीसे वह काला दाग पड़ गया—

'ततः प्रसवमाप्लुत्य रुद्रं विष्णुः सनातनः।
जग्राह कण्ठे भगवन्नीलकण्ठस्ततोऽभवत् ॥'

**इति व्याहृत्य विबुधान्विश्वयोनिस्तिरोदधे।**
**मनस्याहितकर्तव्यास्तेऽपि देवा दिवं ययुः ॥ ६२ ॥**

**अन्वय**—विश्वयोनिः विबुधान् इति व्याहृत्य तिरोदधे, ते देवाः अपि मनसि अहितकर्तव्याः दिवं ययुः ॥ ६२ ॥

**सञ्जी०**—इतीति ॥ विश्वयोनिः विश्वस्य योनिः कारणम्। 'योनिः स्त्रीणां भगस्थाने कारणे ताम्रिके पणे' इति वैजयन्ती। विबुधान् सुरान् इति व्याहृत्य अभिधाय तिरोदधे अन्तर्हितवान्। ते देवाः अपि मनसि आहितकर्तव्याः आहितं कर्तव्यं यैस्ते तथोक्ताः सन्तः दिवं स्वर्गं ययुः प्रापुः ॥ ६२ ॥

**विमर्श**—विश्वयोनिः = संसारस्य कारणभूतः, ब्रह्मा। विबुधान्=देवतान्।

इति = एवम् । व्याहृत्य = उक्त्वा । तिरोदधे = अन्तर्हितवान् । ते देवाः अपि = ते सुराः अपि । मनसि = चित्ते । अहितकर्तव्याः = कृतसङ्कल्पाः । दिवम् = स्वर्गम् । ययुः = गतवन्तः ॥ ६२ ॥

हिन्दी—ब्रह्मा देवगणों से ऐसा कहकर अन्तर्हित हो गये । वे देवगण भी मनमें कर्तव्य का निश्चय कर स्वर्ग चले गये ।

टिप्पणी—विश्वयोनिः—ब्रह्मा । विश्वस्य योनिः इति विश्वयोनिः । सारा संसार ब्रह्मा द्वारा ही उत्पन्न किया जाता है । वे सभी के कारण हैं । अतः 'विश्वयोनि' उनकी अन्वर्थ संज्ञा है । विबुधान्—देवताओं को ( से ) । 'विबुध' का एक अर्थ 'विद्वान्' भी होता है । विशेषेण बुध्यन्ते इति विबुधाः । देवों को भी विबुध इसीलिये कहा जाता है कि वे दिव्यशक्तियों से युक्त होने के कारण सभी को बाह्य अथवा आन्तरिक रूप से जान जाते हैं । व्याहृत्य—कहकर, वाग्व्यवहार करके । वि + आ + हृ + क्त्वा ( —ल्यप् ) व्याहृत्य । यह ब्रह्मा के वचन के अवसान का सूचक है । आहितकर्तव्याः—निश्चित कर्तव्य वाले । आहितं कर्तव्यं यैः ते ( तथोक्ताः ) आहितकर्तव्याः । ब्रह्मा के द्वारा आश्वस्त किये जाने पर और फिर लक्ष्य-प्राप्ति का मार्ग बता दिये जाने पर देवों को संतुष्टि हुयी । ब्रह्मा ने उन्हें प्रयास करने के लिये कहा । इस प्रकार वे देवगण, 'हमें क्या करना है'—इस बात को मन में भलीभाँति बैठाकर अर्थात् अपने निश्चित कर्तव्य का निर्धारण कर स्वर्ग को लौट गये । शिवपुराण में भी लिखा है—

'इत्युदाहृत्य तान्देवान् गृहान्नः प्राविशत् प्रभुः ।
देवास्ते कृतकृत्यास्तु नमस्कृत्य ययुर्दिवम् ॥

**तत्र निश्चित्य कन्दर्पमगमत्पाकशासनः ।**
**मनसा कार्यसंसिद्धौ त्वराद्विगुणरंहसा ॥ ६३ ॥**

अन्वय—पाकशासनः तत्र निश्चित्य कार्यसंसिद्धौ त्वराद्विगुणरंहसा मनसा कन्दर्पम् अगमत् ॥

सञ्जी०—तत्रेति ॥ पाकशासनः पाको नाम कश्चिदसुरः तस्य शासन इन्द्रः तत्र हरिचित्ताकर्षककृत्ये कन्दर्पं निश्चित्य । साधकत्वेनेति शेषः । कार्यसंसिद्धौ त्वराद्विगुणरंहसा त्वरयौत्सुक्येन द्वौ गुणौ यस्य तद्विगुणं द्विरावृत्तं रंहो वेगो यस्य

तेन यथोक्तेन । 'गुणस्तु वृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु' इति वैजयन्ती । मनसा अगमत् । सस्मारेत्यर्थ । गमेर्लुङ् । लृदित्वाच्चलेरङादेशः ॥ ६३ ॥

**निर्मला**—पाकशासनः = इन्द्रः । तत्र = तस्मिन् कर्मणि । निश्चित्य = अवधार्य । कार्यसंसिद्धौ = प्रयोजनसाफल्ये । त्वरादिगुणरंहसा = औत्सुक्यद्विरावृत्त-वेगेन । मनसा चित्तेन । कन्दर्पम् = कामदेवम् । अगमत् = प्रापुः, सस्मारेत्यर्थः ॥

**हिन्दी**—इन्द्र ने वहाँ विचार करके कार्य की सफलता में (के लिये) उत्कण्ठित दुगुने वेग वाले मन से कामदेव को स्मरण किया ।

**टिप्पणी**—पाकशासनः-इन्द्र । पाकं शासयतीति पाकशासनः, अथवा पाकान् बालान् शास्तीति पाकशासनः । एम० आर० काले ने अपनी टिप्पणी में लिखा है कि मूलतः इसका अर्थ है कि जो मूर्खों को अनुशासित करे । क्योंकि वह अनन्त ज्ञान का निधान है । पुराणों में इन्द्र को पाक नामक असुर का वधकर्ता कहा कया है जो कि बालि का भाई था । ( देखिये, भागवतपुराण अष्टम् स्कन्ध, एकादश अध्याय ) । वामनपुराण में यह वृत्तान्त प्राप्त होता है—'पाकं जघान तीक्ष्णाग्रैर्मार्गणैः कङ्कवाससैः तत्र नाम विभुर्लेभे शासनत्वाच्छरैर्दृढैः ॥ पाकशासनतां शक्रः सर्वामरपतिर्विभुः ॥' तत्र निश्चित्य-वहाँ विचार करके । उस कार्य के प्रति निश्चित धारणा बना करके । यह कार्य अब कर ही डालना है—ऐसा सोच करके । कार्यसंसिद्धौ—कार्य की सफलता में । कार्यस्य संसिद्धिः कार्य-संसिद्धिः, तस्यां कार्यसंसिद्धौ । यहाँ पर कार्य से आशय है ब्रह्मा द्वारा निर्दिष्ट कार्य जिसमें कि उन्होंने सलाह दी है कि शिव के निश्चल मन को पार्वती के सौन्दर्य से विचलित कराकर उन दोनों का संयोग कराया जाय तभी इष्ट सेनानी की उत्पत्ति संम्भव है ।

त्वराद्विगुणरंहसा—उत्कण्ठा से दुगुने वेग वाले । 'मनसा' का विशेषण । द्वौ गुणौ यस्य तद्विगुणं, त्वरयाद्विगुणं रंहः यस्य स त्वराद्विगुणरंहः, तेन त्वरा-द्विगुणरंहसा । जिस प्रकार कोई व्यक्ति उत्कण्ठित होकर जाते समय बड़ी जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाता है अथवा और वेगपूर्वक जाता है, उसी प्रकार इन्द्र के मन की गति भी अत्यधिक उत्कण्ठा से दुगुनी होती गयी । मन कितना वेगवान् है, यह कल्पनातीत है । ऐसे मन की गति भी दुगुनी होगी । इन्द्र इस गति वाले मन से कामदेव के पास पहुँचा । अर्थात् तत्क्षण कामदेव का स्मरण किया ।

अथ स ललितयोषिद्भ्रूलताचारुशृङ्गं
रतिवलयपदाङ्के चापमासज्य कण्ठे।
सहचरमधुहस्तन्यस्तचूताङ्कुरास्त्रः
शतमखमुपतस्थे प्राञ्जलिः पुष्पधन्वा ॥ ६४ ॥

अन्वय—अथ स पुष्पधन्वा ललितयोषिद्भ्रूलताचारुशृङ्गं चापं रतिवलयपदाङ्के कण्ठे आसज्य सहचरमधुहस्तन्यस्तचूताङ्कुरास्त्रः प्राञ्जलिः शतमखम् उपतस्थे ॥ ६४ ॥

सञ्जी०—अथेति ॥ अथ स्मरणानन्तरम्। सः स्मृत इत्यर्थः। पुष्पं धनुर्यस्य स पुष्पधन्वा कामः। 'वा संज्ञायाम्' इत्यनङ्। ललितयोषिद्भ्रूलताचारुशृङ्गं। 'ललितं त्रिषु सुन्दरम्' इत्यमरः। ललितायाः सुन्दर्या योषितो भ्रुवौ लते इव चारुणी शृङ्गे कोटी यस्य तत्तथोक्तं चापम्। रतिवलयपदाङ्के रतिः स्मरप्रिया। 'रतिः स्मरप्रिया' इत्यमरः। तस्या वलयपदानि कङ्कणस्थानान्यङ्कश्चिह्नं यस्य तथोक्ते कण्ठ आसज्य लगयित्वा। चापकण्ठविशेषणाभ्यां शृङ्गारैकनिषेव्यस्त्रिभुवनैकवीरस्य शृङ्गारवीरोपकरणेषु तुल्यरसत्वं व्यज्यते। सहचरमधुहस्तन्यस्तचूताङ्कुरास्त्रः सहचरस्य सख्युर्मधोर्वसन्तस्य हस्ते न्यस्तं चूताङ्कुरमेवास्त्रं यस्य स तथोक्तः। प्राञ्जलिः सन्। शतमखम् इन्द्रम् उपतस्थे संगतवान्। सङ्गतिकरणार्थादात्मनेपदम्। अत्र स्वभावोक्तिः। 'स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति। मालिनीवृत्तमेतत्—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति तल्लक्षणात् ॥ ६४ ॥

निर्मला—अथ = तदन्तरम्। सः = तथोक्तः, स्मृतः। पुष्पधन्वा = कामदेवः। ललितयोषिद्भ्रूलताचारुशृङ्गम् = सुन्दररमणीभ्रूवल्लीरुचिरकोटिम्। चापम् = धनुः। रतिवलयपदाङ्के = स्मरप्रियाकङ्कणस्थानचिह्ने। कण्ठे = ग्रीवायाम्। आसज्य = समारोप्य। सहचरमधुहस्तन्यस्तचूताङ्कुरास्त्रः = सखावसन्तकरार्पिताम्रमञ्जर्यायुधः। प्राञ्जलिः = बद्धाञ्जलिः। शतमखम् = इन्द्रम्। उपतस्थे = सङ्गतवान् ॥ ६४ ॥

हिन्दी—तत्पश्चात् वह कामदेव, सुन्दरी रमणी की भौंहों की भाँति कमनीय (वक्र) कोटि वाले धनुष को अपनी प्रिया के वलय से चिह्नित गले में

( अर्थात् कन्धे पर ) लटका कर, मित्र मधुमास के हाथ में आम्र की मञ्जरी रूपी बाणों को देकर, हाथ जोड़कर इन्द्र के सम्मुख उपस्थित हुआ।

टिप्पणी—पुष्पधन्वा—कामदेव। पुष्पं धनुः यस्य सः पुष्पधन्वा। 'पुष्पधनुष्' का प्रथमा विभक्ति, एकवचन का रूप। कामदेव का धनुष फूलों से बना हुआ है। ललितयोषिद्भ्रूलताचारुश्रृङ्गम्—'चापं' का विशेषण। ललिता चासौ योषित् ललितयोषित्। भ्रुवौ एव लते भ्रूलते। ललितयोषितः भ्रूलते ललितयोषिद्भ्रूलते, ललितयोषिद्भ्रूलते इव चारुणो श्रृङ्गे यस्य तत् ललितयोषिद्भ्रूलताचारुश्रृङ्गम्। सुन्दरीस्त्रियों की भौहोंरूप सुन्दर छोर ( अग्रसिरे ) वाला। धनुष की कोटि ( सिरा ) वक्र होती है। कामदेव के फूलों से बने हुये धनुष की कोटि भी सुन्दरी स्त्रियों की वंकिम भौहों की भाँति ( सुन्दर वक्रता वाली ) है। रतिवलयपदाङ्के—रति के कङ्कन से चिह्नित। 'कण्ठे' का विशेषण। रतेः वलयं रतिवलयं, तस्य पद एव अङ्कं ( अथवा रतिवलयस्य पदस्य अङ्कं ) रतिवलयपदाङ्कं, तस्मिन् रतिवलयपदाङ्के। 'रति' कामदेव की प्रियतमा पत्नी का नाम है। रति के शतत आलिङ्गन करने से कामदेव के गले में उसकी कलाइयों में पहने गये कङ्गनों का चिह्न ( घट्ठा ) पड़ गया है; क्योंकि आलिङ्गन करने में उसका हाथ प्रिय इन्द्र के गले से अवश्य लिपटता रहा होगा। आसज्य—लटका कर। आ + सज्ज + क्त्वा ( —ल्यप् )। वास्तव में धनुष कन्धे से लटकाया जाता है। सहचरमधुहस्तन्यस्तचूताङ्कुरास्त्रः—मित्र वसन्त के हाथ में आम्र की मञ्जरी रूपी बाणों को दिये हुये। सह चरतीति सहचरः, सहचरश्चासौ मधुः सहचरमधुः, तस्य सहचरमधोः हस्तः, तस्मिन् न्यस्तं चूतस्य अङ्कुर एव अस्त्रं येन सः सहचरमधुहस्तन्यस्तचूताङ्कुरास्त्रः। वसन्त, कामदेव का मित्र कहा गया है। वसन्त ऋतु में ही आम बौरते हैं। कामदेव के पाँच बाणों में आम्र मञ्जरी भी एक है—'अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका। नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः।' प्राञ्जलिः—अञ्जलि बाँधे हुये अर्थात् हाथ जोड़कर। प्रकृष्टः अञ्जलिः यस्य सः प्राञ्जलिः। अपने बड़ों के समक्ष विनीत भाव से उपस्थित होना चाहिए। यह पद स्पष्ट करता है कि कामदेव ने क्यों अपना 'चूताङ्कुरास्त्र' वसन्त के हाथ में दे रखा था। जब कोई वीर कहीं प्रयाण करता है तो ( यदि वह धनुर्धारी है ) वह अपने

धनुष की डोरी चढ़ाकर कन्धे से लटका लेता है और बाणों को अपनी पीठ पर बँधे तरकस में रख लेता है। किन्तु एक बाण अपने हाथ में अवश्य ले लेता है। कामदेव ने भी ऐसा ही किया था। किन्तु इन्द्र के सम्मुख पहुँचने पर उसने हाथ का बाण वसन्त को थमा दिया और स्वयं हाथ जोड़ लिया था। शतमखम्—इन्द्र को (के सम्मुख)। शतं मखाः यस्य सः शतमखः, तम्। इन्द्र ने सौ अश्वमेघ यज्ञ पूरे किये थे। इसीलिये इसे 'शतमख' की उपाधि मिली थी। वास्तव में 'इन्द्र' व्यक्तिविशेष का नाम नहीं अपितु एक उपाधि है। 'इन्द्रत्व' एक पद है। जो भी सौ अश्वमेध यज्ञ पूर्ण कर ले, उसे 'इन्द्र' की उपाधि या या 'इन्द्र' पद प्राप्त हो जाता है। पुराणों में ऐसे अनेक वर्णन मिलते हैं कि अमुक राजा ने अश्वमेघ करना आरम्भ किया और इन्द्र ने प्रयत्न करना आरम्भ किया कि उसके सौ अश्वमेध यज्ञ पूरे न हों। कितने ही राजा। निन्यानबे यज्ञ पूर्ण कर चुके थे किन्तु इन्द्र ने सौवाँ यज्ञ नहीं पूरा होने दिया और कोई न कोई विघ्न डाल दिया। इस प्रकार पुराणों में इन्द्र, मानवों के यज्ञों में विघ्न डालने वाले के रूप में अनेकत्र चित्रित किये गये हैं। वह ऐसा ईर्ष्यावश किया करता है ताकि कोई इन्द्रत्व प्राप्त करके उसके समकक्ष हो न जाय और इस प्रकार उसकी महिमा या प्रभुत्व का निरादर न हो। अतएव 'शतमख' होने से अन्य को वंचित करता हुआ वही एकमात्र 'शतमख' है।

यह पद्य मालिनी छन्द में निबद्ध है, जिसका लक्षण है—"ननमयययुतेय मालिनी भोगिलोकैः।' अर्थात् जिसके प्रत्येक चरण में दो नगण, एक मगण और दो यगण हों, उसे मालिनी छन्द कहते हैं।

इति श्रीमन्महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनी-
समाख्यया व्याख्यया समेतः श्रीकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे
महाकाव्ये ब्रह्मसाक्षात्कारो नाम द्वितीयः सर्गः ॥

# कुमारसम्भवे द्वितीयसर्गस्य श्लोकानुक्रमणिका


| | |
|---|---|
| **अ** | |
| अथ सर्वस्य | ३ |
| अथ स ललित | ६४ |
| अमी च | २४ |
| **आ** | |
| आत्मानमा | १० |
| आवर्जित | ६६ |
| **इ** | |
| इतः स दैत्यः | ५५ |
| इति तेभ्यः | १६ |
| इति व्याहृत्य | ६२ |
| इत्थमाराध्य | ४० |
| **उ** | |
| उच्चैरुच्चैः | ४७ |
| उत्पाटच | ४३ |
| उद्घातः | १२ |
| उभे एव पक्षे | ६० |
| उमारूपेण | ५९ |
| **ए** | |
| एवं यदात्थ | ३१ |
| **क** | |
| किमिदम् | १९ |
| किंचायम् | २१ |
| कुबेरस्य | २२ |
| **ग** | |
| गोप्तारं | ५१ |
| **ज** | |
| जगद्योनिः | ९ |
| जयाशा | ४९ |
| ज्वलन्मणि | ३८ |
| **त** | |
| ततो मन्दाऽनिलो | २९ |
| तत्कृता | ३९ |
| तत्र निश्चित्य | ६३ |
| तद्भूत | २८ |
| तस्मिन्नुपायाः | ४८ |
| तस्मिन्विप्र | १ |
| तस्यात्मा | ६१ |
| तस्योपायन | ३७ |
| तदिच्छामो | ५१ |
| तदीयास्तोय | ५० |
| तिसृभिः | ६ |
| तेनामरवधू | ४१ |
| तेषामाविरभूत् | २ |
| त्वमेव हव्यं | १५ |
| त्वं पितॄणाम् | १४ |
| त्वामामनन्ति | १३ |

द

द्रवः सङ्घात ११

न

नमस्त्रिमूर्तये ४

प

पर्याकुलत्वात् २५

पर्यायसेवाम् ३६

पुराणस्य १७

पुरे तावन्त १३

प्रशमादर्चिषाम् २०

भ

भवल्लब्ध ३२

भुवनालोकन ४५

म

मन्दाकिन्याः ४४

य

यज्वभिः ४६

यदमोघम् ५

यमोऽपि २३

ल

लब्धप्रतिष्ठा २७

व

वचस्यवसिते ५३

वृत्तं तेनेदमेव ५६

वीज्यते ४२

व्यावृत्त ३५

स

स द्विनेत्रम् ३०

सम्पत्स्यते ५४

सर्वाभिः ३४

स हि देवः ५८

संयुगे सांयु ५७

स्त्रीपुंसा ७

स्वकालपरिमा ८

स्वागतम् १८

--:o:--

Bhavan's Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya * Bharatiya Vidya
613